110708
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
110708

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६२
संवत् २०१४
अंक ४

CHECKED 1973

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री करुणापति त्रिपाठी
डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

[illegible] ११८४-११८५

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३२,४६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110788

विषयसूची

१. संदेशरासक के विचारणीय पाठ और अर्थ - ३ — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी २५१

२. महाभारत — एक ऐतिहासिक अध्ययन - २ — डा० बुद्धप्रकाश ... २६७

३. विशिष्ट शब्दार्थवाद — श्री राममूर्ति त्रिपाठी २९३

४. महाभारत के कुछ कूट स्थल — डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ३०४

विमर्श

देवनागरी में अँग्रेजी शब्दों का उच्चारण — डा० गोरखप्रसाद ३११

चयन ३१३

निर्देश ३१६

समीक्षा

मैत्रेय — श्री रामसेवक सिंह ३१७

वंदे वाणीविनायकौ तथा देखा परखा—श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ३२०

भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ—डा० शंभुनाथ सिंह ३२४

शिवपूजन रचनावली—श्री सतीशचंद्र ३२७

हिंदी शेक्सपियर—श्री अजय ३२८

चतुर्दश भाषा निबंधावली—श्री अजय ३२८

नयी कविता—श्री अजय ३२८

राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धांत—श्री भँवरलाल गर्ग ३२९

अरिस्तू की राजनीति—श्री दिलीप नारायण सिंह ३३०

प्राप्ति स्वीकार ३३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४ – प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
110708
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६२] संवत् २०१४ [अंक ४

संदेशरासक के विचारणीय पाठ और अर्थ[1] – ३

हजारीप्रसाद द्विवेदी

[इस लेखमाला के दो अंश पहले प्रकाशित हो चुके हैं। उनके लिखने के समय तक मुझे संदेशरासक की मुद्रित प्रति का ही सहारा लेना पड़ा था। अब जयपुर के दिगंबर जैन भांडार की कृपा से संदेश रासक की एक और दुर्लभ प्रति प्राप्त हो गई है। लेखमाला के इस अंश में उस प्रति के पाठों का भी उपयोग किया गया है। मुझे यह सूचित करने में अत्यंत हर्ष है कि इसके पूर्व मैंने जो पाठ सुझाए हैं उनमें से कई का समर्थन इस प्रति से हो जाता है। इस प्रति में भी एक टीका है जो बहुत कुछ अवचूरिका से मिलती जुलती है, अंतर बहुत थोड़े स्थलों पर है। इस प्रति के पाठ और उस पर दी हुई टीका में कहीं कहीं विचित्र अंतर है। जान पड़ता है कि लेखक ने पाठ किसी और प्रति से लिया है और टीका किसी और प्रति से। इस लेख में 'ज' प्रति से इसी नवोपलब्ध प्रति का निर्देश है।]

२ – १०३ **पढ़िय (पढ़ि); वियसेविणु**

एय वयण आइन्निवि दीहर लोयणिहिं
पढ़िय अडिल्ल वियसेविणु मयणुक्कोयणिहिं ॥

दोनों टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार दिया है – 'एतद्वचनमाकर्ण्य दीर्घतराक्ष्या मदनोत्कौकुच्यया अडिल्ला पठिता'। स्पष्ट ही इसमें 'वियसेविणु' शब्द का अर्थ छूट गया है। अर्थ है 'विकसित होकर'। चौदहवें पद्य में 'विअसउ' शब्द का प्रयोग 'विकसतु' अर्थ में हुआ है। 'विअस' धातु से 'एविणु' नामक पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय से 'विअसेविणु' या 'वियसेविणु' रूप बनेगा। परंतु विकसित होने का हेतु क्या है। उसके बाद जो 'मयणुक्कोयणिहिं' है वह हेत्वर्थक तृतीया है। आकोयण और 'उक्कोयण' ('आकोचन' और 'उत्कोचन') का प्रयोग आँखों की विशेष प्रकार की मदनचेष्टा के अर्थ में पुस्तक में अन्यत्र भी हुआ है। यहाँ भी अर्थ वही है। द्वितीय पंक्ति में एक मात्रा अधिक है। 'ए' प्रति का 'पढ़ि' पाठ कदाचित् अधिक ठीक है।

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६२, अंक १ (संवत् २०१४) के आगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२ – १०४ **ताकं तहं** (ताकं तह ?) **महकंतहं** (महकंतह ?)

जइ मइ गत्थि गेहु ताकं तहं,
पंथिय कज्जु साहि मह कंतहं।
जं विरहग्गि मज्झगक्कंतह,
हियउ हवेइ मज्झ गक्कंतह ॥

यह पद्य अडिल्ला छंद में है। टिप्पणक में इसका लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है –

चउपइ इक्कु जमक्कु जि दीसइ
अडिल छंदु सु बुहहि सलीसइ

अडिल्लच्छंदोलक्षणम्—चतुःपदेषु एक सदृशो यमको भवति।
स विबुधैः अडिल्लच्छन्दः कथ्यते।

अर्थात् जिसमें चारों पदों में एक समान यमक होता है उसे पंडित लोग अडिल्ल छंद कहते हैं। इसलिये एक समान यमक की दृष्टि से 'ताकं तह' और 'मह कंतह' पाठ ही उचित है क्योंकि शेष दो पदों में 'णकंतह' (नाक तक) और णक्कंतह (नक्तान्त तक) पाठ हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी ताकं तह (तर्कयामि तथा) और मह कंतह (मम कांतस्य) पाठ ही अधिक उपयुक्त हैं।

२ – १०५ **मयणाउहवहिय**

कहि ण सवित्थरु सक्कउ मयणाउहवहिय,
इय अवत्थ अम्हारिय कंतह सिव कहिय।
अंग भंगि गिरु अणरइ उज्जगउ णिसिहि,
विहलंघल गय मग्ग चलंतिहि आलसिहि ॥

'मयणाउहवहिय' का अर्थ टिप्पनककार ने मदनशरव्याप्तया (तृतीयांत) किया है और अवचूरिकाकार ने 'मदनायुध वधिता' (प्रथमांत) किया हैं। दूसरा अर्थ मूल के अधिक निकट है। 'सक्कउ' क्रिया का कर्ता प्रथमांत ही होना उचित है। परंतु मदनायुध वधिता (मदन-वाण-हता) कदाचित् और भी उपयुक्त होता। 'विहलंघल' को दोनों टीकाकारों ने ज्यों का त्यों रख दिया है। फर्क इतना है कि टिप्पनककार ने 'विहलंघला' को नायिका का विशेषण माना है और 'गय' को एकदम छोड़ दिया हैं या यों कहना चाहिए कि 'विहलंघल गय' को नायिका का विशेषण समझ कर एक शब्द में ही व्याख्या कर दी है और अवचूरिकाकार ने इसे गति (गय) का विशेषण समझा है। 'शब्द कोश' में संपादक ने 'विहलंघल' का अर्थ 'विह्वल' किया है। परंतु यह शब्द 'विह्वलांग' से बना जान पड़ता है। प्राकृत में यह शब्द इसी से बना हुआ बताया जाता है। 'पाइय सद्द महण्णव' के अनुसार भी यही अर्थ संगत है। 'सुर सुंदरी चरिअ' में (१५–२०४) लगभग इसी प्रकार के प्रसंग में 'विअड्ढा विहलंघला पडिआ' का प्रयोग है। इस प्रकार इस शब्द को 'विह्वलांगी' माना जा सकता है और वह नायिका तथा गति दोनों का ही विशेषण हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२ – ११० 'तुरियउ' (तुरिउ)

पहिउ भणइ पसयच्छि तुरियउ किं बज्जरहि

इसमें एक मात्रा अधिक है। उचित पाठ 'तुरिउ' होना चाहिए जो 'त्वरित' का अपभ्रंश रूप है। मुद्रित प्रति में इसका कोई पाठांतर नहीं है। मुझे प्रसन्नता है कि 'ज' प्रति में 'तुरिउ' पाठ ही मिला है। इसलिये इस पाठ के बारे में कोई शंका नहीं रह गई। यह पाठ छंद और व्याकरण दोनों दृष्टियों से ठीक है। यह और बात है कि 'ज' प्रति की टीका में इसका अर्थ 'किंतु' दिया गया है जो चिन्त्य है।

२ – १११ पउक्कु (पडिक्कु ?)

हियउ पउक्कु पडिउ दीवंतरि
खाइ पतंगु पडिउ दीवंतरि

दोनों टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है 'मम हृदयं द्वीपांतरे पतितं शून्यं जातमित्यर्थः' 'ज' प्रति में भी यही अर्थ दिया गया है। मतलब यह हुआ कि 'मेरा हृदय द्वीपांतर में पतित है' अर्थात् शून्य है। परंतु इन सभी टीकाकारों ने 'पउक्कु' शब्द का अर्थ छोड़ दिया है।

'सी' प्रति में 'पडिक्कु' पाठ है जो ठीक जान पड़ता है। अर्थ है 'फड़ककर' (फड़का हुआ ?)। मतलब यह हुआ कि पतंग जैसे फड़क कर दीप में पड़ जाता है वैसे ही मेरा हृदय भी उछल कर दूसरे द्वीप में चला गया है। 'ए' 'बी' और 'ज' प्रतियों में 'पियंगु (या पयंगु) खाइ पडिक्कु' पाठ है जो अन्वय की दृष्टि से सुंदर होगा। पतंग की भाँति फड़का हुआ। इसलिये 'पउक्कु' के स्थान पर 'पडिक्कु' पाठ ही ज्यादा उचित है। टीकाकारों ने कुछ अर्थ नहीं समझा और उसे छोड़ ही दिया।

२ – ११२ उत्तरायणि, खिउइउ, तीयउ, होइयउ

उत्तरायणि बड्ढिहि दिवस,
णिसि दक्खिण इहु पुव्व खिउइउ।
दुच्चिय वड्ढहि जत्थ पिय,
इहु तीयउ विरहायणु होइयउ॥

यह पाठ कई दृष्टियों से चिंत्य है। प्रथम तो छंद की दृष्टि से ही यह अशुद्ध है। ग्रंथ के हिसाब से यह 'चूडिलउ' (२ – ११०) छंद है जिसका लक्षण टिप्पनक में इस प्रकार दिया हुआ है –

दोहा छंदु जि दु दलु पढ़ि मत्त ठविज्जहिं पंच सु केहा।
चूडिल्लउ तं बुह मुणहु गुल्लु पयंपइ सच्चु सु एहा॥

अर्थात् दोहा छंद के बाद पाँच मात्रा जोड़ने से चूडिल्लअ बनता है। 'उत्तरायणि' में यदि मुद्रित प्रति के अनुसार 'त' का द्वित्व होना स्वीकार कर लिया जाय तो दोहा छंद नहीं बनता। इसलिये 'ज' प्रति में आया हुआ 'उतरायणि' पाठ ही संगत है। मुद्रित प्रति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार प्रथम पंक्ति में १४ मात्राएँ होती हैं, जब कि दोहे में १३ मात्राएँ ही होनी चाहिएँ। दूसरी पंक्ति में दोहे की ११ मात्राएँ 'पुव्व' शब्द पर समाप्त हो जाती हैं। इसके बाद पाँच मात्राएँ और होनी चाहिए। 'णिउइउ' में चार ही मात्राएँ हैं। इसमें 'णिश्रोइउ' (नियोजितं) पाठ उचित है। यह केवल छंद की दृष्टि से नहीं व्याकरण की भी दृष्टि से उचित होगा। क्योंकि 'नियोजित' का 'णिश्रोइउ' पाठ ही व्याकरण-संमत है। 'ज' प्रति में 'णिश्रोयउ' पाठ दिया हुआ है, जो व्याकरण और छंद दोनों दृष्टियों से उचित सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी मैंने 'णिश्रोइउ' पाठ संगत समझा है। इसका कारण आगे दिया जा रहा है। छंद की दृष्टि से चौथी पंक्ति भी चिंत्य है। इसमें 'विरहाय' तक दोहे की ११ मात्राएँ समाप्त हो जाती हैं। उसके बाद 'णु होइयउ' में छ मात्राएँ हैं। इसलिये यहाँ भी एक मात्रा अधिक है। 'होइउ' पाठ होता तो व्याकरण, छंद और तुक तीनों दृष्टियों से वह अधिक ग्रहणीय होता। 'तीयउ' का अर्थ है 'तृतीय'। लेकिन 'तीश्र' या 'तीय' शब्द ही तृतीय के अर्थ में अधिक प्रयुक्त होता है। आगे वाला अकार जिसका प्रथमांत रूप 'उकार' हो गया है स्वार्थक प्रत्यय है, इसलिये निरर्थक सा ही है। कवि कठिनाई में पड़कर ही ऐसे स्वार्थक प्रत्ययों का व्यवहार करते हैं। मुझे लगता है कि पाठ 'तीयउ' नहीं था बल्कि 'तीउ अ' था। मेरे इस अनुमान की पुष्टि के लिये थोड़ा अर्थ विचार की आवश्यकता है। सभी टीकाकारों ने इनका अर्थ लगभग एक ही प्रकार से किया है जिसका भाव यह है कि उत्तरायण में दिन बढ़ते हैं, दक्षिणायन में रातें बढ़ती है (यह पूर्व नियोजित हैं, अर्थात् पहले से तय है। टीकाकारों ने इस वाक्य का अर्थ छोड़ दिया है, इसलिये मैंने इसे कोष्ठ के अंतर्गत कर दिया है) लेकिन जिसमें दोनो ही (दिन और रात) बढ़ जाते हैं, हे प्रिय, यह तीसरा 'विरहायण' उत्पन्न हो गया है। इतना लिखने के बाद तीनों ही टीकाओं में एक अर्थ-गर्भित वाक्य दिया हुआ है। वह इस प्रकार है—द्वयोर्हानौ तुर्यः सुखायनः चकारात्। अर्थात् दिन और रात दोनों ही जब छोटे हो जाते हैं तो चौथा 'सुखायन' होता है। वह पद्य में आए हुए 'च' शब्द से ध्वनित होता है। इस वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि जब दिन बढ़ता है तो उत्तरायण होता है, रात बढ़ती है, तो दक्षिणायन होता है, दोनों ही बढ़ते हैं तो 'विरहायण' होता है और जब दोनों ही घटते हैं तो 'सुखायन' होता है। मूल पद्य में तीन का उल्लेख है चौथे का नहीं। टीकाकार कहते हैं कि कवि के मन में यह चौथा भी था क्योंकि अगर ऐसा न होता तो 'च' शब्द का प्रयोग न करते। जब उसने कहा कि तीसरा 'विरहायण' भी (च=भी) होता है तो उसके मन में चौथे 'सुखायन' की भी कल्पना अवश्य रही होगी। लेकिन कठिनाई यह है कि पूरे पद्य में 'च' शब्द (जो अपभ्रंश में 'अ' बन जाता है) खोजने पर भी नहीं मिलता। निस्संदेह टीकाकारों को च (अ) कहीं-न-कहीं पद्य में मिला था। नहीं तो तीन तीन टीकाएँ एक स्वर से यह वाक्य न लिखतीं। 'च' शब्द तृतीय के बाद होना चाहिए या फिर 'विरहायणु' के बाद होना चाहिए। तभी ऐसा अर्थ निकाला जा सकता है। मेरा अनुमान है कि 'तीयउ' में 'तीय अ' या 'तीउ अ' ऐसा पाठ था, जिसका संस्कृत रूपांतर होगा 'तृतीयं च' जिसे बाद में लिपिकारों ने ठीक न समझने के कारण उलटकर लिख दिया। इन बातों को ध्यान में रखते हुए मेरा अनुमान है कि मूल पद्य का पाठ इस प्रकार रहा होगा —

उतरायणु वड्ढिह दिवस,
णिसि दक्खिण हहु पुव्व णिश्रोइउ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुच्चिय वड्ढिइ जत्थ पिय,
इहु तीय अ विरहायणु होइउ ॥

व्याकरण छंद तुक और टीकाएँ, चारों दृष्टि से यही पाठ शुद्ध होगा।

२ – ११३ **तो जाइअइ अ कज्जि मइ अइआवलइ**

यह पद्य मुद्रित प्रति में इस प्रकार है –

गयउ दिवसु थिउ सेसु पहिय गमु मिल्हियइ,
णिसि अत्थमु बोलेवि दिवसि पुणु चल्लियइ।
बिंबाहरि दिण बिंब जुन्ह गोसिहि बलइ,
तो जाइअइ अ कज्जि मइ अइआवलइ,
जइ न रहहि इणि ठाइ पहिय ! इच्छहि गमणु,
चूडिल्लउ खड्डहडउ पियह गाहाइ भणु ॥

पद्य का भाव यह है कि नायिका कहती है कि हे पथिक, दिन बीत गया। थोड़ासा बाकी रह गया है। अब जाने की बात छोड़ो। रात बिताकर फिर दिन में चलना। इस पर पथिक ने उत्तर दिया कि हे बिंबाधरे ! दिन में सूर्य के बिंब का प्रकाश प्रभात होते ही जल उठता है। मैं कार्य में जाने को उत्सुक हूँ। इस पर नायिका ने कहा कि हे पथिक यदि जाना ही चाहते हो, रुकना नहीं चाहते तो प्रिय से एक चूडिल्लउ, एक खड्डहडअ और एक गाहा कह देना।

इसमें चौथी पंक्ति विचारणीय है। उस पंक्ति का अर्थ टिप्पनककार ने लिखा है "अतः कारणाद् रात्राविव कार्ये उत्सुके मया गम्यते" और अवचूरिका में इस प्रकार अर्थ दिया गया है – मया औत्सुक्ये कार्ये गम्यते" और ज प्रति की टीका में 'मयि उत्सुक्ये अति कार्ये गम्यते' है। स्पष्ट है कि टिप्पनककार को जो शब्द मिला था उसमें कोई रात्रिवाचक शब्द था। परंतु अन्य दो टीकाकारों ने रात्रिवाचक किसी शब्द का अर्थ नहीं दिया है। या तो उन्होंने रात्रिवाचक शब्द का अर्थ करना छोड़ दिया है या उन्हें जो पाठ प्राप्त था उसमें रात्रिवाचक कोई शब्द नहीं था। हमने पहले कई पद्यों में देखा है कि ये टीकाकार कई बार मूल में आए हुए शब्दों की उपेक्षा कर जाते हैं। इसलिये मूल में रात्रिवाचक शब्द हो तो भी संभावना है कि टीकाकार उसे छोड़ गए हों। इस बात की पुष्टि 'ज' प्रति के मूल पाठ और टीका से होती है। 'ज' प्रति की मूलप्रति में 'रयणि' शब्द है किंतु टीका में उसका अर्थ नहीं दिया गया है। जो हो टिप्पनककार के सामने ऐसा पाठ अवश्य था जिसमें 'रात्रिवाचक' कोई शब्द था और 'ज' प्रति में तो वह है ही। मुद्रित प्रति की टिप्पणी में 'सी' आदर्श का पाठ इस प्रकार दिया हुआ है "रहणि तो जाइ हउ कज्जिहिं आवलउ"। परंतु इस पाठ में छंद भंग है। मुद्रित प्रति के पाठ में भी छंदोभंग है। 'ज' प्रति का यह पाठ अधिक शुद्ध जान पड़ता है। इसमें छंदोभंग नहीं है, अर्थ स्पष्ट है और 'रयणि' शब्द के आने से टिप्पनककार द्वारा दिए अर्थ के अनुकूल भी है। पाठ इस प्रकार है –

रयणि तोइ जाइहउं कज्जि हउं आवलिइ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अर्थ हुआ कि 'रात रहते ही जाऊँगा मैं कार्य के लिये अत्याकुल हूँ' यह पाठ उचित जान पड़ता है।

२ – १२० पचिल्लइ

> अणरइ छारुछित्तु पचिल्लइ तज्जइ ताम दड्ढए
> इहु अचरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरुह अम्ह वड्ढए।

सभी टीकाकारों ने 'पचिल्लइ' का अर्थ 'प्रेरयति' किया है। परंतु वस्तुतः यहाँ अर्थ होना चाहिए – और भी जलना या दहकना। प्राकृत में 'चिल्ल' धातु का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। 'पाइय सद्द महण्णव' में यह शब्द और इसके प्रयोग दिए हुए हैं। हिंदी में 'चिलकना' और 'चिलचिलाना' इसी धातु से आए हैं।' टीकाओं में जो 'पुनः-अरति रक्षा युक्तः' लिखा है वह वस्तुतः राख का संस्कृत बना लिया गया है। किंतु मूल पाठ से स्पष्ट है कि 'छार' होना चाहिए जिसका अर्थ 'राख' भी हो सकता है और कोयला भी हो सकता है। पूरे वाक्य का अर्थ यह होगा – अनरइ (अरति) अर्थात् बेचैनी का छार (कोयला) दिप्त होते रहने से यह (विरहाग्नि) और भी प्रज्वलित हो उठती है। टीकाकारों ने 'पचिल्लइ' का अर्थ 'प्रेरयति' करके 'परलोकाय' भी जोड़ दिया है जो मूल पद्य में कहीं नहीं मिलता अतएव कष्ट-कल्पित है।

२ – १२१ णेय, परिवडिउ, रंजियउ, तह पय जपंइ

मुद्रित प्रति में पाठ इस प्रकार है।

> खंधउ दुवइ सुणेवि अंगु रोमंचियउ
> णेय पिम्म परिवडिउ पहिउ मणि रंजियउ
> तह पय जपंइ मियनयणि सुणिहि धीरि खणु
> किहु पुच्छउ ससि वयणि पयासहिं फुडुवयणु,

टिप्पणककार ने इसकी जो व्याख्या की है उसका भाव यह है वह पथिक खंधक और दुवइ सुनकर अंग में रोमांच-कंचुक हो गया अर्थात् उसके अंग में इस प्रकार रोमांच हुआ मानों उसने रोमों का कंचुक धारण कर लिया। तथा प्रेम नहीं गया। नायिका ने पथिक का मन रंजित किया। तथापि हे मृग नेत्रे! मन को धीर कर के कुछ पदों को कहो फिर वैसे ही मैं कुछ पूछता हूँ। यदि हे शशिवदने। स्फुट (प्रकट) बोलो।

अवचूरिका और 'ज' प्रति की टीका में भी लगभग यही अर्थ है, किंतु वहाँ 'रोमंचियउ' का सीधा अर्थ रोमांचित दिया है, 'रोमांचकंचुकोद्भूव' इसी प्रकार 'परिवडिउ' का अर्थ 'परिपतित' दिया हुआ है। इतना ही अंतर है। अब यदि मुद्रित प्रति का पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो दूसरी पंक्ति के अंत तक पथिक की अवस्था का वर्णन है और तीसरी पंक्ति से पथिक की उक्ति है। किंतु दोनों में ठीक संबंध स्थापित नहीं होता। अवचूरिका में 'तह पय जंपइ' का अर्थ 'तां प्रति जल्पति' दिया है जो उचित जान पड़ता है। किंतु टीकाकार का 'तथापि' अर्थ बिलकुल असंगत है। 'ज' प्रति में 'परिवडिउ' के स्थान पर 'परिवरिउ' पाठ है जो अधिक उचित जान पड़ता है। इसी प्रकार 'बी' प्रति का 'रंचियउ' पाठ साहित्यिक दृष्टि से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक उपयुक्त है। 'प्रेम नहीं गया था' या 'प्रेम परिपतित नहीं हुआ' दोनों अर्थों की कोई संगति नहीं है। 'पहिउ मणि रंजियउ' अर्थात् 'पथिक का मन रंजित हुआ' के बदले 'पहिउ मण रंचियउ' अधिक सुन्दर पाठ है। जान पड़ता है कि टीकाकारों ने 'रंचियउ' का ठीक अर्थ न समझने के कारण उसे 'रंजियउ' बना दिया। 'रंचियउ' का सीधा संबंध तुलसीदास के 'मन जाहि राँच्यो' मुहावरे से है। बिहारी ने भी इस मुहावरे का प्रयोग इस पंक्ति में किया है – मन काँचै नाचै वृथा साँचै राँचै राम।

'परिविरिउ' का अर्थ है 'घिरना', आवेष्टित होना – इसका प्रयोग इसी अर्थ में 'सुपास नाह चरिय' – १२५ में मिलता है। 'णेय' शब्द अपभ्रंश में अवश्य ही 'नैव' के अर्थ में मिलता है। परंतु यह संस्कृत 'नेय' से भी बन सकता है; जिसका अर्थ होता है; 'ले आया हुआ' 'आरोपित', 'दूसरों से ग्रहण किया हुआ'। इस पंक्ति का पाठ 'ज' और 'बी' प्रतियों के आधार पर इस प्रकार होगा जो साहित्यिक दृष्टि से और भाषा की दृष्टि से भी उतम होगा क्योंकि 'मन राँच्यो' मुहावरे का प्रयोग बाद तक मिलता है और 'रोमंचियउ' का तुक 'रंचियउ' अधिक उपयुक्त है –

णेय पिम्म परिविरिउ पहिउमण रंचियउ

इसका अर्थ प्रथम पंक्ति के साथ मिलाकर इस प्रकार होगा – खंधक और द्विपदी को सुनकर पथिक रोमांचित हुआ और वह नेय-प्रेम अर्थात् नायिका के प्रेम का स्वयं अनुभव करके उस प्रेमानुभूति से परिवेष्टित हो गया और उसका मन भी रँच गया, अनुरक्त हो गया।

ऐसा अर्थ करने के बाद तृतीय पंक्ति का अर्थ स्पष्ट होता है। मुद्रित प्रति में जो पाठ है उसमें छंदोभंग है। वस्तुतः 'सी' प्रति का या 'ज' प्रति का पाठ ज्यादा उचित है। दोनों बहुत कुछ मिलते हैं। 'सी' प्रति का पाठ इस प्रकार है –

तह जंपइ मियनयणि सुणिहि धीरयसु खणु,

और 'ज' प्रति का पाठ है –

तह जंपइ मियणयणि णिसुणि तुह धीरि खणु,

भाव यह होगा कि पथिक उस अवस्था में प्राप्त होकर (तह) बोला 'हे मृग नयने! सुनो क्षण भर धैर्य धारण करो, इत्यादि; इसमें भी 'ज' प्रतिवाला पाठ और भी अच्छा है।

३ – १३७ दसणिहि, खयहि, कुसुम सरच्छयहि

मुद्रित प्रति में इस पद्य की तीसरी और चौथी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं।

दसिउ दसणिहिं भुअंगि अंगु चंदगु खयहि
खिवइ हारु खारुब्भवु कुसम सरच्छयहि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छंद की दृष्टि से ये दोनों पक्तियाँ ठीक नहीं हैं। दोनों में एक एक मात्रा अधिक हैं। 'ज' प्रति का पाठ छंद, काव्यसौष्ठव और अर्थ सभी दृष्टियों से उत्तम है। वह इस प्रकार है –

दंसिउ दुसहु भुयंगि अंगि चंदणु तवइ
खिवइ हारु खारुब्भवु कुसमसरिच्छयइ।

'भुअंगि अंगि' में यमक तो है ही, इस पाठ को स्वीकार कर लेने से अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। अर्थ है 'दुःसह भुजंग के द्वारा दंशित चंदन अंग में तपता रहता है।' चंदन के साथ 'तवइ' क्रिया का प्रयोग कवि ने अन्यत्र भी किया है और ऐसे ही प्रसंग में –

हरियंदणु सिसिरत्थु उवरि जं लेवियउ,
तं सिहणह परितवइ अहिउ अहिसेवियउ

इसलिये यह पाठ कवि का संमत जान पड़ता है। "खिव" धातु का प्रयोग जलने के अर्थ में कवि ने अन्यत्र भी किया है –

"भयभेसिय अइरावइ गयणि खिवंतियइ" ।१४०

इसलिये ऊपर उद्धृत दूसरी पंक्ति का अर्थ यह होगा –

"क्षार से उत्पन्न हार फूल के बाणों द्वारा उत्पन्न क्षतस्थान पर (घाव पर नमक छिड़कने के स्थान पर) जलन करता है।" 'कुसुम सरच्छयइ' सप्तम्यन्त प्रयोग है और अच्छा अर्थ देता है। इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि 'ज' प्रतिवाला पाठ स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी प्रकार अंतिम पंक्ति मुद्रित प्रति में इस प्रकार है –

'उल्हवइ ण केणइ विरहज्झल पुणवि अंग परीहिंसयहिं'

छंद की दृष्टि से इसमें भी दो मात्रायें अधिक हैं। 'सी' और 'ज' प्रति का 'विरहहव' पाठ अधिक उचित है। कवि ने अन्यत्र अग्नि के अर्थ में 'हव' शब्द का प्रयोग किया है –

विरह हवि तविय तणु ।१३०

क्रिया रूप में भी इसका प्रयोग है –

हियइ हवेइ मज्झ णवकंतह ।१०४

इसलिये यहाँ भी 'विरहहव' पाठ कवि-संमत जान पड़ता है। 'परीहिंसयहि' की जगह 'परिहिंसियहि' पाठ व्याकरण-संमत भी है और कवि के 'परि' उपसर्ग के अन्यत्र प्रयोगों के अनुकूल भी है और छंद की दृष्टि से तो ठीक है ही। तुलनीय –

परिघोलिर ४६, परिभमण ५४, परितवइ १३५ इत्यादि।

इस पद्य की प्रथम दो पंक्तियों में ज० प्रति का पाठ इस प्रकार है –

विवसाविय रवियरिहि तवहि अरविय तवणि
अमियमओ विहु जणइ दाह बिस जम्मगुणि।

यह पाठ अर्थ और छंद दोनों दृष्टियों से मुद्रित प्रति से अधिक शुद्ध और ग्राह्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३ – १३८ निभंति

मुद्रित प्रति में यह दोहा इस प्रकार है –

तणु घणसारिण चंदणिण अलिउ जि किवि चच्चंति
पुणवि पिएण व उल्हवइ पियविरहग्गि निभंति।

इसमें 'निभंति' शब्द विचारणीय है। टिप्पणक में इसका अर्थ दिया हुआ है 'भ्रमो न' अर्थात 'इसमें भ्रम नहीं है' और अवचूरिका में 'निर्भ्रांतम्' अर्थात एकांत भाव से। 'ज' प्रति में 'अत्र भ्रमण' लिखा है जो वस्तुतः 'अत्र भ्रमो न' का अशुद्ध पढ़ा हुआ रूप है। जान पड़ता है कि ठीक पाठ 'निभंति' नहीं था बल्कि 'न भंति' था जिसका सीधा अर्थ हो सकता है – 'भ्रम नहीं' बाद में उसे गलत पढ़ लिया गया और उसे 'निभंति' पढ़ लिया गया। यह 'न भंति' पाठ अपभ्रंश परंपरा के अनुकूल है। हेमचंद्र द्वारा उदाहृत यह दो दोहों में आया है।

आयइँ लोअहों लोअणइँ जाई सरइँ **न भंति**। ३६५।१

तथा –

अहरिउ - रहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भंति। ४१६।१

३ – १४१

मुद्रित प्रति में यह पद्य इस प्रकार है :–

गिंभ तवणि खर ताविय बहु किरणुक्करिहिं,
पउ पडंतु पुक्खरहु ण मावइ पुक्खरिहिं,
पय हत्थिण किय पहिय पयहि पवहंतयह,
पइ पइ पेसइ करलउ गयणि खिवंतयह॥

यह पूरा पद्य विचारणीय है। संदेशरासक के विद्वान संपादक ने अंतिम दो पंक्तियों को संदेहास्पद माना है (देखिए नोट्स पृ० ९७) परंतु द्वितीय पंक्ति भी विचारणीय है। टीकाकारों के अनुसार इस पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा –

'ग्रीष्म तपन की खर - उत्तप्त किरणों के उत्कर्ष से संबंधित जल पुष्कर से (अवचूरिका० पुष्करावर्त के समान) गिरता हुआ पुष्करियों में (अव० नदियों में) नहीं अंटता और मार्ग में प्रवसित पथिक जलधारा से पदत्राण हस्त (हाथ में जूता लिए) बना दिए गए हैं। आकाश में बिजली से ही करल (पगदण्डक) दिखलाई देते हैं और तरह से नहीं।'

जान पड़ता है कि टीकाकारों ने दूसरी पंक्ति के 'पुष्कर' का अर्थ 'बादल' किया है। 'अवचूरिका' में 'पुष्करावर्त' कहकर इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। मेघदूत में कालिदास ने मेघ को 'पुष्करावर्त' का वंशज बताया था। तीसरी और चौथी पंक्ति में पाठांतर भी अनेक हैं। 'पयहत्थिण' शब्द का अर्थ है 'हाथ में पैर वाले'। 'पवहंतयह' का अर्थ 'प्रवास करते हुए' किया गया है, किंतु किसी पाठ से यह अर्थ समर्थित नहीं होता। स्वह 'पवहंतियइ' या 'पवहंतियहि' पाठ था जो अधिकांश प्रतियों में प्राप्त होता है। 'पेसइ' का अर्थ टीकाकारों ने 'प्रेचते' किया है। प्राकृत और अपभ्रंश में इसका बहुप्रचलित अर्थ है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'भेजता है।' 'करलउ' बिलकुल अपरिचित जान पड़ता है। टीकाकारों ने इसका अर्थ 'पगडंडक' किया है जो आधुनिक हिंदी की 'पगडंडी' से मिलता है। 'देशीनाम माला' में एक शब्द 'करड' है जो इससे मिलता है और जिसका अर्थ होता है 'कबुर रंग का' अर्थात कबूतर से मिलता जुलता हुआ रंग। 'गयणि' के स्थान पर 'सी' प्रति का 'गयण' पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। प्रायः सभी प्रतियों में 'खिवंतियह' या 'खिवंतियइ' पाठ है। केवल एक प्रति में खिवंत यह पाठ है जो न प्रसंगानुकूल है और न टीकाओं में दिए गए अर्थ के अनुकूल है। वस्तुतः यह पद अब्दुल रहमान की कवित्व - शक्ति का उत्तम निदर्शक है। इसमें उन्होंने साभिप्राय विशेषणों और क्रियाओं का प्रयोग किया है जो एक और अर्थ को ध्वनित करते हैं। उसका एक अर्थ तो प्रायः वही है जो टीकाओं में दिया गया है किंतु दूसरा अर्थ रसपरक है और विरहिणी की अवस्था के अनुकूल है। अधिकांश पांडुलिपियों की और सुंदर अर्थ की दृष्टि से अंतिम दो पंक्तियों का पाठ इस प्रकार होना चाहिए। यह पाठ 'ज' प्रति के पाठ से बहुत कुछ मिलता जुलता होगा —

पयहत्थिए किय पहिय पहिहिं पवहंतियह
पइ पइ पेसइ करलउ गयण खिवंतियह

पूरे पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—

वर्षावर्णन से संबंधित प्रथम अर्थ—

ग्रीष्मताप से खर तप्त किरणों के संपर्क के कारण बादलों से झरता हुआ पानी (पउ पडंतु) पोखरियों में समा नहीं रहा है (ण मावइ -) तुलनीय केशवदास, भाई कहाँ धौं य माएगी सूरति जो दिन द्वै यहि भाँति बढ़ैगी) ये पोखरियाँ रास्तों पर बढ़ती हुई पथिकों को पैर हाथ में लेने के लिये मजबूर कर रही हैं अर्थात पोखरियों का पानी रास्ते पर आ जाने के कारण पथिकों ने जूते अपने हाथ में ले लिए हैं। पद पद पर आस्मान को जलानेवाली बिजली रास्ता दिखा रही है।

समासोक्ति द्वारा व्यंजित दूसरा अर्थ—

प्रथम पंक्ति का पूर्ववत ही होगा। दूसरी पंक्ति का प्रत्येक शब्द अर्थगर्भ है। 'पंउ पडंतु' का दूसरा अर्थ होगा 'पैर पड़ता हुआ।' 'णमावइ' का दूसरा अर्थ होता है 'नवाती है, झुकाती है। कवि यहाँ कहना चाहता है कि इस वर्षा काल में प्रेमियों की बड़ी दारुण अवस्था है। पैर पड़ते हुए बादलों को पोखरियाँ और भी झुका रही हैं या नहीं मान रही हैं। इसी प्रकार तीसरी पंक्ति से भी एक दूसरा अर्थ ध्वनित होता है। अर्थ यह है रास्ते में बहती हुई (निचली श्रेणी की स्त्रियाँ) पथिकों को पैर हाथ में लेने वाला बना रही हैं यानी पैर पड़वा रही हैं। चौथी पंक्ति का दूसरा ध्वनित अर्थ यह होगा—कबुर वर्ण का आकाश दुख पाती हुई विरहिणियों के पति को (पइ) पैरों के पास (पइ) भेज रहा है।

इस पद्य में निम्नलिखित शब्दों में श्लेष है—

पडउ पडंतु (१) गिरता हुआ पानी (२) पैर पड़ता हुआ
पुक्खरहु (१) पुष्कर (मेघ) से (२) पुष्कर को भी
णमावइ (१) नहीं अँटता (२) झुकाती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पय हत्थिण (१) जिन्होंने पैर हाथ में ले लिया है अर्थात् जिन्होंने पैर में पहना हुआ जूता हाथ में ले लिया है वे (२) पैर पर हाथ देने वाले

पहिहि पवहंतियह (१) पथ पर बहने वाली (२) चंचल स्वभाव स्त्रियाँ

पइ पइ (१) पदे पदे (२) पतिं पदे

पेसइ (१) दीखता है (२) भेजता है

करलउ (१) पग डंडी (टीका) (२) करड, कबूतर के रंग का कर्बुर वर्ण वाला (हे० दे० ना०) खिवंतियइ (१) विद्युत (२) विरह की ज्वाला से जलने वाली विरहिणी ।

३ – १४८ दुद्धर धर धारोह भरु

वर्षा वर्णन के प्रसंग में बादलों के वर्णन 'दुद्धर धर धारोह भरु' का अर्थ टीकाकारों ने किया है 'दुर्द्धर धारौघ भरं' अर्थात् 'दुर्द्धर धारा समूह से भरा हुआ'। लेकिन ऐसा अर्थ करने से 'धर' शब्द व्यर्थ हो जाता है। संदेश - रासक के विद्वान् संपादक को भी इस शब्द का अर्थ स्पष्ट न होने का संदेह हुआ था (नोट्स पृ० ६७) मुझे जान पड़ता है कि यह शब्द व्यर्थ तो है ही नहीं, कवि की उत्कृष्ट निरीक्षण - शक्ति और कल्पना - नैपुण्य का निदर्शक है। इसमें बताया गया है कि मेघों का निपट निरंतर क्रम रूई के छोटे छोटे पहलों के समूह सजाए हुए से जान पड़ते हैं। देशी० ना० मा० में 'धर' शब्द का अर्थ 'रूई' और 'धार' का अर्थ छोटा दिया हुआ है। इस प्रकार 'दुद्धर' इसका विशेषण है। रूई के छोटे छोटे पहलों से भरे हुए के समान निविड भाव से निरंतर फैले हुए मेघ दुर्द्धर हो उठे हैं, यही विरहिणी नायिका का अभिप्राय है।

इसमें एक और भी अर्थ ध्वनित है। धर = धरा रणक्षेत्र, धारा = रणमुख (दे० ना० ५ - ५६) ओह = उतरने वाले, अर्थात् युद्धक्षेत्र में उतरते हुए रणोन्मुख योद्धा। बादलों में दुर्द्धरता का आरोप 'धर धारोह भरु' के दूसरे अर्थ रणक्षेत्र में उतरने वाले भटों की ध्वनि से किया गया है। मतलब यह कि शब्दों का ऐसा प्रयोग किया गया है कि सहृदय के चित्त में रणोन्मुख भटों के साथ मेघों की तुलना स्वयमेव ध्वनित हो उठती है। समासोक्ति का यह पद्य उत्तम उदाहरण है।

३ – १५२ जंच (जंचि ?)

> किं जुत्तं सुकुलग्गयाण मुत्तूण जं च इह समए,
> तड तडणतिव्व - घण गहण संकुले दइय वच्चंति।

इसमें 'जंच' शब्द विचारणीय है। टीकाकारों का बताया हुआ अर्थ यह है कि हे दयित जो लोग सुकुलोद्गत हैं अर्थात् सद्वंशजात हैं उनके लिये ऐसे समय में जब कि बिजली तड़तड़ा रही हो और जब घनघटन मेघ शब्दसंकुल हों अर्थात् मेघों की गड़गड़ाहट से व्याप्त हो, प्रिया (दयिता) को छोड़ कर जाना क्या उचित है! इस अर्थ में दो बार 'दयित' शब्द का प्रयोग है। एक तो हे दयित संबोधन में और दूसरे दयिता को छोड़कर लेकिन मूल में केवल एक ही बार 'दइय' शब्द आया है जो संबोधनार्थक उचित जान पड़ता है। फिर मुत्तूण (छोड़कर) क्रिया का कर्म क्या है? मुद्रित प्रति में 'जं च' जो पाठ है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे अर्थ नहीं खुलता। किंतु 'ज' प्रति में और 'बी' प्रति में 'जंचि' पाठ है जो उचित जान पड़ता है। दे० ना० (३।४०) में 'जच्च' शब्द पुरुष या नर का वाचक बताया गया है। अपभ्रंश में द्वित्व वर्ण के पहले अनुस्वार करके सरलीकरण की प्रथा प्रचलित ही है। इसलिये 'जच्च' या 'जंच' दोनों का अर्थ होगा पुरुष और 'जंचि' का अर्थ होगा नारी (यहाँ स्त्री, विरहिणी) इसलिए 'मुत्तूण जंचि' का अर्थ होगा स्त्री को छोड़कर। ऐसा अर्थ करने से टीकाकारों के अर्थ की संगति भी बैठ जाती है और 'मुत्तूण' क्रिया का कर्म भी अव्यवहित पश्चात् उपलब्ध हो जाता है। इसलिए 'जंचि' पाठ ही संगत है।

३ – १६४

मरालागमि णहु तग्गमि

इस पद्य में अंतिम पंक्ति का अर्थ अवचूरिका में इस प्रकार दिया हुआ है – 'मरालीगमेऽगमे च मरामि' अर्थात् मराली के जाने और न जाने दोनों ही अवस्थाओं में मैं मरती हूँ। टिप्पनककार ने लिखा है कि उसके (क्रौंच के) आगमन से कमल मृणाल भी चले गए। पता नहीं कि टिप्पनककार ने यह अर्थ किस पाठ के आधार पर किया। परंतु जिस पांडु लिपि में टिप्पनक प्राप्त हुआ है उसमें (बी) में अंतिम पंक्ति का पाठ इस प्रकार है –

'मरिम मुरालागमि तग्गागमि'

कदाचित् 'तग्ग' शब्द का भाव 'तागा' समझ कर उन्होंने मृणालतंतु कर लिया है। परंतु फिर भी इस पाठ और इस अर्थ का कोई सामंजस्य समझ में नहीं आता। अवचूरिकाकार ने जो अर्थ दिया उससे लगता है कि पाठ कुछ इस प्रकार का रहा होगा –

'मरिम मरालागमिणहु तग्गमि'

यहाँ 'हु' हिंदी के 'भी' अव्यय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसका संस्कृत में अवचूरिका ने 'च' अर्थ दिया है 'मरालागमणि' का अर्थ हुआ 'मरालों के आगमन से और 'तग्गामि' का अर्थ हुआ 'उनके जाने से' अर्थ हुआ मराल के आगमन और गमन दोनों से मैं मरती हूँ। यहाँ 'मराल' शब्द अर्थ-गर्भ है। इसमें एक और अर्थ ध्वनित होता है। 'मराल' अर्थात् 'मरण वाला'। 'हु' अव्यय का 'भी' अर्थ में प्रयोग अन्यत्र भी है –

णहु कि हु कहइ। ९६

– 'किहु' अर्थात् कुछ भी।

३ – १८६ **कोसिल्लि**

मुद्रित प्रति में जिस पंक्ति में यह शब्द आया है, वह इस प्रकार है –

लइ ढुक्कउ कोसिल्लि हिमंतु तुसार भरु

टिप्पनक, अवचूरिका, और 'ज' प्रति की टीका में भी 'कोसिल्लि' का अर्थ 'कुशलेन' अर्थात् कुशलतापूर्वक दिया हुआ है। किंतु देशी नाम माला (   ) में इस शब्द का अथ दिया गया है – प्राभृतम्। इस अर्थ को स्वीकार कर लेने से इस पंक्ति का स्पष्ट अर्थ यह होगा –हेमंत तुषार - भार का उपहार लेकर आ पहुँचा; यह अर्थ निस्संदेह उत्तम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३ – १६२ सुडिय

टिप्पणककार ने इस शब्द को छोड़ दिया है लेकिन 'अवचूरिका' और 'ज' प्रति की टीका में 'सुडिताः संतः' कह कर चलता कर दिया गया है; कोई अर्थ नहीं दिया गया है। हेमचंद्र (४।१०६) ने सुड् धातु को 'भंज्' धातु का आदेश माना है। इसलिये 'सुडिय' का अर्थ होगा 'तोड़ा हुआ'।

३ – १६५ मत्त मुक्क (मज्जमुक्क), विवहगंधक्करसु, वरच्छणि, सीमंतिणिय,

'ए' प्रति के सिवाय बाकी तीनों प्रतियों में 'मज्जुमुक्क' पाठ है। केवल 'ए' में 'मत्तमुक्क' पाठ है। लेकिन तीनों ही टीकाओं में 'मात्रामुक्त।' अधिकः अर्थ दिया हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि टीकाकारों के सामने 'मत्त-मुक्क' पाठ ही था। लेकिन अधिकांश प्रतियों में होने के कारण और अर्थ सौष्ठव के कारण 'मज्जमुक्क' पाठ ही ज्यादा ठीक है, जिसका संस्कृत रूपांतर 'मद्य मुक्त' होगा। इसी प्रकार 'ज' प्रति में आया हुआ 'विविह गंधुक्करसु' उत्तम है। सभी टीकाकारों ने इसका संस्कृत रूपांतर 'विविधगंधोत्कर्ष' दिया है। इससे 'विविहगंधक्कु रसु' रूप का बनना सहज है। नीचे की पंक्ति में 'इक्खरसु' के साथ इसका तुक मिलाया गया है। इस दृष्टि से भी ऊपर की पंक्ति में 'रसु' ही होना चाहिए, 'रिसु' या 'रेसु नहीं'। 'वरच्छणि' पाठ भी चिंत्य है, यद्यपि सभी टीकाकारों के सामने यही पाठ रहा होगा क्योंकि सभी ने इसका अर्थ किया है 'वरोत्सवे'। मगर 'बी' और 'ज' प्रति में जो 'वरत्थणि' पाठ है वह ज्यादा उचित है, जिसका अर्थ है, 'वरार्थनी' अर्थात् वर की प्रार्थना करने वाली। आगे के 'पीणुन्नयथणिय' में 'थणि' के साथ इसका यमक भी है।

३ – १६६ उवाडयणि

इस शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'गर्दभी' किया है। प्रसंग यह है कि नायिका कह रही है कि मैंने प्रिय को बुला लाने के लिये अपने मन को दूत बना कर भेजा। प्रिय तो आया नहीं, मेरा मन भी वहीं प्रिय के पास रह गया। यह उसी प्रकार हुआ जैसे गर्दभी सींग के लिये गई और उसके कान भी खो गए। 'उवाडयणि' का अर्थ 'गर्दभी' समझने का कोई आधार नहीं है। 'ज' प्रति में 'वाडव्वणि' (वाडव्यणी) पाठ है। यह उचित पाठ जान पड़ता है। संस्कृत में 'वड़वा' घोड़ी को कहते हैं। उसी से बना हुआ 'वाडव्य' शब्द खच्चर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'वाड़व्य' से अपभ्रंश का 'वाडव्व' बना है और उसी में 'णी' स्त्री लिंग प्रत्यय जोड़कर 'वाडव्वणी', 'खच्चरी के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

३ – २०८ मुद्रित प्रति में यह पूरा पद्य इस प्रकार है –

पज्जलंत विरहग्गि - तिव्व झालाउलं
मयरद्धउवि गज्जंतु लहरि घण भाउलं
सहवि दुसहु दुत्तर विचरिज्जइ सब्भयं
मह णेहह किवि दुग्गु वणिज्जइ णिब्भयं

टिप्पनककार ने इसका जो अर्थ किया है उसका भाव यह है :-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मकरध्वज भी वन भाव से' भा – श्राकुल' भाव से प्रज्वलत् विरहाग्नि तीव्र ज्वालाकीर्ण रूप से गर्जन कर रहा है श्रौर मैं दुस्तर दु:सह भाव से सहन करती हुई सभय बनी रहती हूँ। परंतु सोचती हूँ कि मेरे स्नेह से अपीड़ित रह कर स्तंमतीर्थ नामक दुर्ग में मेरा प्रिय वाणिज्य करता है।

श्रवचूरिकाकार ने जो अर्थ किया है उसका तात्पर्य यह जान पड़ता है –

'प्रज्वलंत बिरहाग्नि तीव्र ज्वालाकुल में, मकरध्वज की भाँति गरजता हुआ (है) लहरी घन निबिड प्रभा कान्त्या कुल दुःसह में सहन करके समय भाव से ही विचरण किया जाता है। मेरे स्नेह का कोई दुर्ग निर्भय भाव से वाणिज्य करता है।'

इस टीका में सप्तम्यंत विशेषणों का विशेष्य क्या है यह स्पष्ट नहीं होता। इसीलिये सारा अर्थ अस्पष्ट लगता है। किंतु 'ज' प्रति में यही अर्थ दिया गया है श्रौर वहाँ सप्तम्यंत पदों को प्रथमांत कर दिया गया है, जिससे लगता है कि ये सब विशेषण मकरध्वज के हैं। दोनों पाठों को यदि मिला कर अर्थ किया जाय तो अर्थ इस प्रकार बनता है –

'विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला से श्राकुल मकरध्वज भी गर्ज रहा है, जो लहरी - घन - निविड - प्रभा - कांति से व्याकुल दुःसह श्रौर दुस्तर है, उसे सहन करके भयपूर्वक भ्रमण किया जाता है, किंतु मेरे स्नेह का कोई दुर्ग है जिसमें वह निर्भय वाणिज्य करता है।'

परंतु इतने से भी कवि का तात्पर्य स्पष्ट समझ में नहीं श्राता। चौथी पंक्ति में जो 'किवि' है 'ज' प्रति में इसके स्थान पर 'किं' है किंतु टीका में अर्थ 'किमपि' ही दिया है। इसका अर्थ प्रसंग के अनुकूल होना चाहिए। इसके पूर्व के छंदों में नायिका ने वसंत में रस गंध लुब्ध भ्रमरों की लुब्धता का वर्णन किया है। वे परस्पर मिलित कंटकों से विद्ध हो रहे हैं तो भी तीक्ष्ण कंटकाश्रों के दुःख की अवहेलना करके मधुपान कर रहे हैं। रस-लोभ से रसिक गण अपने शरीर की परवाह नहीं करते। प्रेम मोह में कोई पाप की आशंका भी नहीं करते—

विज्झंति परुप्पर तरु लिहंति
कंटग्ग तिक्ख ते णहु गणंति
तणु दिज्जइ रसि यह रसह लोहि
णहु पाउ गणिज्जइ पिम्म मोहि २६

इस मधु प्रेम व्यापार की क्रीड़ा को देखकर ही नायिका के मन में विस्मय हुआ श्रौर उसने यह छंद पढ़ा—

महु पिक्खवि विंभिउ मणिहि हूउ
सुणि पहिय कहिउ रवणिज्ज रूउ। २०७

इसलिये इसमें मधु-प्रेम में कष्ट पाने की बात होनी चाहिए श्रौर साथ ही विस्मय का भी कोई हेतु अवश्य होना चाहिए। यह विस्मय तभी हो सकता है जब ऐसी ही अवस्था में ऐसा कुछ घटता न दिखे। नायिका के मन की स्थिति से यह अनुमान किया जा सकता है कि जब सभी लोग प्रेम के लिये कठोर पीड़ा को सह कर भी प्रेम-पात्र की श्रोर कठिनाई के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्रसर हो रहे हैं उसी समय उसी अवस्था में उसका प्रिय क्यों ऐसा नहीं कर रहा है। उसके मन में यह भी बात आ सकती है कि पुष्प भ्रमरों को रस के लोभ से अपना शरीर दे रहे हैं और वह भी इसी प्रकार रस-लोभ से अपने प्रिय को अपना शरीर अर्पण करना चाहते हैं। परन्तु फिर भी उसका प्रिय समस्त विघ्न बाधाओं के भय को दूर करके क्यों नहीं आ रहा है। जब सभी लोग भय और कष्ट की परवाह किए बिना दुस्तर तरण कर रहे हैं तो उसका प्रिय ही क्यों ऐसा भय और जोखिम नहीं उठा रहा है। उसके मन में यह भी वितर्क उठ सकता है कि कदाचित उसके प्रेम की ही कमजोरी है और यह प्रेम उसके प्रिय तक नहीं पहुँच रहा हैं। वह उसके प्रेम के लिये दुर्गम है। भ्रमरों के पुष्प तक पहुँचने में बाधक कंटक है। उन्हीं का भय या जोखिम नायिका के प्रिय के मार्ग का बाधक भयंकर समुद्र है। भ्रमर अगर कंटकों की उपेक्षा कर सकता है तो उसके प्रिय को भी समुद्र की उपेक्षा करनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा नहीं हो रहा है यही विस्मय का हेतु है। इस दृष्टि से देखने पर इस पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—

दुःसह दुस्तर गर्जमान मकरध्वज को, जो जलती हुई विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला से उसी प्रकार आकुल है, जिस प्रकार बड़वाग्नि की ज्वाला से समुद्र आकुल रहता है और जो घनी तरंगों को आवर्त से उसी प्रकार भ्रमाकुल है जिस प्रकार समुद्र हुआ करता है, सह कर भी सब लोग जोखिम उठाकर विचरण कर रहे हैं, किंतु मेरा प्रिय, मेरे स्नेह के लिये दुर्गम है बिना किसी प्रकार के भय या जोखिम को उठाए, निर्भय होकर वाणिज्य कर रहा है।

यहाँ 'दुग्ग' शब्द का प्रयोग करके कवि ने समासोक्ति के द्वारा यह भी बताना चाहा है कि भयंकर मकरध्वज (समुद्र) में स्थित दुर्ग जिस प्रकार उसकी भयंकरता से अप्रभावित रहता है उसी प्रकार मेरा प्रिय भी मकरध्वज (कामदेव) की भयंकरता से अप्रभावित हैं। टिप्पणक कार की व्याख्या 'मम स्नेहेन अपीडितः' वाक्यांश इसी बात की ओर इशारा करता है। जिस प्रकार समुद्रस्थित दुर्ग समुद्र की बाधाओं से निर्भय होकर व्यापार करता है उसी प्रकार मेरा प्रिय भी कामदेव की बाधाओं से निर्भय होकर व्यापार कर रहा है।

यहाँ मकरध्वज, झालाउल, लहरिवण, भाउल आदि शब्दों का प्रयोग करके कवि ने कामदेव के साथ ही भयंकर समुद्र की भी व्यंजना की हैं। मकरध्वज शब्द का प्रयोग करके उसने बताना चाहा है कि सभी लोग जब मकरध्वज ? (कामदेव) की भयंकरता की उपेक्षा कर रहे हैं तो उसका प्रिय ही मकरध्वज (समुद्र) की क्यों नहीं उपेक्षा कर रहा है। इसके बाद नायिका के चित्त में यह वितर्क उपस्थित होता है कि कदाचित उसका प्रिय उसके प्रेम के लिये दुर्गम है। 'मह णेहह किवि दुग्ग' से तात्पर्य प्रिय से है। 'भय' शब्द का व्यवहार जोखिम के अर्थ में होता है।

३ – २१६ नच्चीयइ, बसंतकाल, हार, परिखिल्लरीहिं

'ज' प्रति का 'णच्चियइ' पाठ छंद और व्याकरण की दृष्टि से उचित है। 'बी' प्रति में 'वसंत कालु' के स्थान पर 'वसंत यालु' (बसंत - तालु) पाठ है जिसका अर्थ होगा 'अपूर्व वसंत - ताल (वसंत राग के ताल से) नाचा जा रहा है, जो उत्तम ज्ञात होता है 'परिखिल्लरी' का अर्थ टिप्पनककार ने 'परिवेष्टिता' किया है और अवचूरिका में 'परिखेलंती' अर्थ दिया है। दे० ना० मा० २।७० में 'खल्लिरी' का अर्थ 'संकेत' या 'अभिनय' दिया हुआ है जो यहाँ प्रसंगानुकूल जान पड़ता है। इससे 'परिखिल्लरी' का अर्थ होगा 'नाना प्रकार की आंगिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेष्टाओं को करती हुई'। इस प्रसंग में भी 'बी' प्रति का 'हारि' पाठ ज्यादा उचित है, अर्थ है 'हार द्वारा'।

३ - २२३ पहावरिउ, अणाइ, अनंत

'पहावरिउ' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'पंथानं आवरयन्' किया है, अर्थात् 'पथ को आवृत करता हुआ'। भाव यह हुआ कि ज्यों ही विरहिणी पथिक को संदेश देकर दक्षिण की ओर मुड़ी, निकट ही पथ को आवृत करता हुआ उसका पति दिखाई दिया और वह तुरंत हर्षित हुई (आसन्न पहावरिउ दिट्ठु णाहु तिणि झत्ति हरसिय) किंतु यह अर्थ कुछ स्पष्ट नहीं है। 'पहावरिउ' शब्द का अर्थ होगा 'पथा, वरित' अर्थात् मार्ग से ढका हुआ या छिपा हुआ। मतलब यह हुआ कि पति तो उसका निकट ही आ गया था किंतु रास्ते के मोड़ के कारण आवरित सा था, दिखाई नहीं दे रहा था। 'पहावरिउ' शब्द का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है, प्रभा से आवरित। कवि 'पहावरिउ' शब्द के प्रयोग से दो अर्थ ध्वनित करना चाहता है। नायिका का प्रेमी मार्ग के मोड़ के कारण दिखाई नहीं दे रहा था लेकिन नायिका को देखने मात्र से 'प्रभावृत' भी हो गया—

रड्डा के अंत में जो दोहा है वह इस प्रकार है:—

जेम अचिंतउ कज्जु तसु सिद्ध खणद्धि महंतु
तेम पठंत सुणंतयह जयउ अणाइ अणंतु

अर्थ है जिस प्रकार उस नायिका का अचिन्तित महान् कार्य क्षणार्द्ध में ही सिद्ध हो गया उसी प्रकार पढ़ने सुनने वालों का भी हो, अनादि अनंत परम पुरुष की जय हो यही ग्रन्थ का भी अन्तिम दोहा है। इसलिये कवि का अनादि पुरुष का स्मरण कर लेना उचित ही है। किन्तु 'सी' प्रति में एक पाठ और भी है जो किसी टीकाकार की दृष्टि में नहीं पड़ा है। यह पाठ 'जयउ अणाइतु अंत', है अर्थात् अनागत (भावी) अंत की जय हो' यदि यह पाठ स्वीकार किया जाए तो अंतिम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा –

'उसी प्रकार पढ़ने सुनने वालों के अनागत अंत की जय हो अर्थात् पढ़ने सुनने वालों के मन में जो भी इच्छा हो उसका अंत भविष्य में जययुक्त होवे।' यह अर्थ इस दोहे को भगवान की स्तुति न बना कर सीधा सादा आशीर्वादात्मक भरत वाक्य के रूप में कर देता है।

(क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत— एक ऐतिहासिक अध्ययन – २

बुद्धप्रकाश

•

वृक जाति का, प्रतीक भीम

'अर्जुन' नाम की जातीय व्यंजना के अध्ययन के अनंतर हम प्रसिद्ध गदाधारी भीम के नाम की गवेषणा करेंगे। भीम का एक उपनाम वृकोदर भी मिलता है।[1] यह लक्ष्य है कि वृक एक जाति का नाम है। पाणिनि ने वृकों की गणना क्षत्रिय संघों में की है।[2] इस संघ का सदस्य वार्केण्य कहलाता था और संपूर्ण संघ की संज्ञा वृक थी। यह वार्केण्य हखामनि सम्राट दारयवउश् के बहिस्तून अभिलेख में 'पार्थव' के साथ वर्णित 'व्रकान' का रूपांतर है। इस लेख में दारयवउश् ने लिखा है कि पार्थव और व्रकान ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया और वे प्रव्रतैश् से जा मिले जिसे उसके पिता विश्तास्प ने परास्त किया।[3] अवेस्ता में इस शब्द का रूप 'वेहकान' है, आरमीनी में यह 'व्रकन' हो जाता है, यूनानी में इसका पाठ 'उरकानिया' बन जाता है और इसका वर्तमान उच्चारण है 'हिरकानिया'। आजकल यह शब्द पार्थिया के उत्तर में केस्पियन सागर के पूर्वी कोने के प्रदेश के लिये व्यवहृत होता है। संस्कृत में 'वृक' शब्द का अर्थ भेड़िया है और यही अभिप्राय फारसी शब्द 'गुर्ग' का भी है। अतः 'गुर्गान' नामक प्रांत जिसमें अस्तराबाद का प्रदेश भी संमिलित है प्राचीन हिंदी - ईरानी जनपद वृक - व्रकान का द्योतक है। उत्तर पश्चिम की बहुत सी भाषाओं में वृक शब्द के प्रयोग पाए जाते हैं। इश्काशमी में 'वेर्क' और युद्दगा के 'वुर्क', 'वुर्ग' इसके अवशेष हैं। वीमा कदफिसस् के मथुरा के देवकुल के जीर्णोद्धार और निरीक्षण के अध्यक्ष एक शक कर्मचारी की उपाधि 'बकनपति' या 'वर्कनपति' थी जिससे ज्ञात होता है कि यह अधिकारी वृकों से संबंधित था या जैसा कि श्री काशीप्रसाद जायसवाल का सुझाव है, यह हिर्कानिया का निवासी था।[4] महाभारत में भी वृक जाति के कई उल्लेख मिलते हैं, यद्यपि कुछ स्थलों पर पाठ बड़ा विकृत हो गयाहै।[5] श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार 'वृक' का बहुवचन रूप 'वृकाः' शक हौमवर्कं

१. **श्रीमद्भगवद्गीता,** १।१५ पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः; **किरातार्जुनीय** २।१।
२. **पाणिनिसूत्र** ५।३।११५ वृकाड्ढेण्यण्; भट्टोजी दीक्षित ने इस सूत्र पर लिखा है 'आयुधजीविसङ्घवाचकात्स्वार्थे। वार्केण्यः'
३. सुकुमार सेन, **ओल्ड पर्शियन इंसक्रिप्शंस** पृ० ४८ थातिय दारयवउश् ख्शायथिय पर्थव उत व्रकान हामिस्सिया अब व हच म प्रव्रतैश् अगौबन्ता विश्तास्प मना पिता हौव पर्थवैय आह···अवदा हमरनं अकुनौश् हदा पर्थवैबिश्।
४. **जनल ऑव दि बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी** भाग १६ पृ० २५८।
५. **महाभारत** ६।१०।६०; १।१७६; ४।५८; देखिए रावर्टशेफर, **एथनोग्राफी आव एंशियेंट इंडिया** पृ० ७६–१४६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या शक हौमवर्ग पद के 'वर्क' या 'वर्ग' अंश का परिचायक है।[६] किंतु कुछ विद्वान् 'हौमवर्क' शब्द के 'हौम' का मिलान 'सोम' शब्द से करते हैं और इस नाम से प्रख्यात शकों को सिर-दरिया के तट पर फरगना के प्रदेश में प्रतिष्ठित करते हैं जहाँ सोम का पौदा विशेष रूप से पाया जाता था।[७] केंट महाशय के मतानुसार प्राचीन फारसी धातु 'वर्ग' का अर्थ 'निचोड़ना' या 'पीना' है। उदाहरणार्थ कृष्णसागर के उत्तरपूर्वी तट पर कुबान नदी के किनारे रहने वाले अस्पवर्ग (यूनानी, अस्पूरगियानोई) लोगों का नाम इस तथ्य पर आधारित है कि वे घोड़ियों की धार निकाल कर उनके दूध से कुमीज बनाया और पिया करते थे।[८] जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे वास्तव में शक हौमवर्ग पांचाल जनसमूह की एक सहकारी जाति सोमक के पर्यायवाची हैं। अपने सुग्धी निवासस्थान से ये लोग अफ़गानिस्तान की ओर अग्रसर हुए जहाँ इनका नाम दुश्ते-मर्गो नामक स्थान में प्रतिध्वनित होता है जैसा कि फूशे ने संकेत किया है।[९] वेजेंडोंक ने उनकी पहचान 'सकरवाक' से की है[१०] और मार्कार्ट के अनुसार वे सकरौके[११] हैं जिन्होंने असिआनी के साथ मिलकर बक्त्र पर आक्रमण किया था। यद्यपि हौमवर्क शब्द का 'वृक' के साथ कोई संबंध प्रतीत नहीं होता तथापि इसमें संदेह नहीं है कि वृक जाति भी शक-परिवार से संबंधित थी जैसा कि कुषाण कर्मचारी वर्कनपति की उपर्युक्त उपाधि से परिलक्षित होता है। जहाँ तक भेड़िए के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले वृक शब्द से इस जाति के नाम की व्यंजना का प्रश्न है, यह बात उल्लेखनीय है कि मध्यएशिया की बहुत सी जातियाँ अपने को भेड़िए की संतान मानती थीं। तुर्कों की एक प्रसिद्ध किंवदंती के अनुसार वे दस कन्याएँ, जिनमें एक से उनके राजवंश का प्रवर्तन हुआ, एक राजकुमार और भेड़ियन की संतान थी। ऐसी मान्यता है कि उसके कुल के सर्वनाश के पश्चात् एक भेड़ियन ने उस राजकुमार की रक्षा की और बाद में उससे विवाह भी किया।[१२] इस संबंध के फल-स्वरूप तुर्कों के राजवंश का प्रादुर्भाव हुआ। हिरोदोतस[१३] ने शकों की एक जाति नयरी का उल्लेख किया है जिनके बारे में यह प्रसिद्ध था कि प्रत्येक नयरी, वर्ष में एक बार भेड़िया बन

६. वासुदेवशरण अग्रवाल, **इंडिया एज नोन टु पाणिनि** पृ० ४४३ – ४६७।

७. ऑरल स्टाइन, **'आन दि एकेड्रा, हुम एंड सोमप्लांट'** बुलेटिन आव दि स्कूल ऑव ओरियंटल एंड एफ्रीकन स्टडीज (१९२१) पृ० ५०१ – ५१४।

८. आर्नोल्ड जोजेफ ट्वायनबी, **ए स्टडी आव हिस्ट्री** भाग ७ पृ० ५८७ रोलेंड जी० केंट का नोट।

९. आ० फूशे, **ला वीय रूत द् लेंद द् बक्त्र आ तक्सिला** भाग २ पृ० १९० पा० टि० २१।

१०. आं० जी० वान वेजेंडोंक, **कुशान, खियोनिटन, उंद हेप्तालिटन**, क्लीओ (१९३३) पृ० ३३७।

११. या मार्कार्ट, **दास एर्स्ते कापितेल देज़् गाथा उश्तवती** पृ० ४३।

१२. ओटो मैंशन—हेल्फन, **दि यू-ची प्रोब्लेम रीएग्ज़ामिंड्**, जर्नल आव दि एमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी (१९४५) पृ० ७४।

१३. **हिरोदोतस** ४।१०५ जोर्ज रॉलिंसन का अंग्रेजी अनुवाद भाग ३ पृ० ९१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है और कुछ दिन बाद फिर अपना मानव रूप ग्रहण कर लेता है। हिरोदोतस के अंग्रेजी अनुवादक जोर्ज रालिंसन ने रेवरेंड पामर का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि सिथिया के उत्तरवर्ती वन्यप्रदेश में लोग शरद् ऋतु में भेड़ियों की खाल पहन लेते हैं, यही उनके भेड़िया बनने की मान्यता का आधार है।[१४] इस प्रदेश में मनुष्य और भेड़िए का इतना घनिष्ट साहचर्य है कि यहाँ से भेड़ियों से संबंधित उक्त दंतकथाओं का आविर्भाव और प्रसार हुआ। वृक जाति का नाम इन व्यापक कथाओं की ओर संकेत करता है जो मध्यएशिया की अनेक शक जातियों में और तुर्कों के आधिपत्य के बाद उनके कबीलों में प्रचलित हुई। 'वृकोदर' शब्द में उक्त तुर्की किंवदंती से मिलती-जुलती मान्यता संनिहित है। इस प्रकार भीम भी मध्यएशिया की शक - जातियों का प्रतीक है। अर्जुन के समान यह भी इन घुमक्कड़ लोगों का द्योतक है, अर्जुन ऋषिकों का और यह वृकों का। यह लक्ष्य है कि पंजाब में जाटों की एक जाति विर्क कहलाती है। अमृतसर पठानकोट रेलवे पर वर्का नामक जंकशन भी संभवतः इन वृकों के आगमन का सूचक है। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल में वृक भारत में आए और यहाँ की जनता तथा स्थानों पर अपनी छाप छोड़ गए।

यौधेय जाति का प्रतीक युधिष्ठिर

अर्जुन और भीम की तरह सबसे बड़े पांडवबंधु युधिष्ठिर का नाम भी जातीय महत्त्व रखता है। पाणिनि ने युधिष्ठिर शब्द को 'युध्' धातु से सिद्ध किया है जो लड़ने के अर्थ में प्रयुक्त होती है।[१५] प्राचीन पंजाब की एक प्रसिद्ध जाति यौधेय का नाम भी 'युध्' धातु से निष्पन्न है। पाणिनि ने उनका वर्णन पर्शु के साथ किया है[१६] और उनकी गणना आयुध-जीवी संघों में की है।[१७] वास्तव में 'यौधेय' पाणिनि और कौटिल्य द्वारा उल्लिखित 'आयुध-जीवी' और 'आयुधीय'[१८] का पर्यायवाची है। पुराणों में यौधेयों की चर्चा उशीनरों के साथ हुई है जो उत्तरवैदिक युग में पूर्वी पंजाब पर छा गए थे।[१९] इन परंपराओं के आधार पर पार्जीटर ने यह मत प्रकट किया है कि उशीनर ने यौधेय, अंबष्ठ, नवराष्ट्र और क्रिमिलों के राज्यों की स्थापना की और उसके पुत्र शिवि ने शिवपुर की आधारशिला रखी।[२०] महाभारत में यौधेयों की चर्चा त्रिगर्त, मालव, अंबष्ठ और शिवि के साथ आई है।[२१] सभापर्व

१४. जोर्ज रॉलिन्सन, **हिरोदोतस** भाग ३ पृ० २०६।

१५. **पाणिनिसूत्र** ८।३।९५ गवियुधिस्थिरः।

१६. **वही** ५।३।११७ पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ।

१७. **वही** ४।१।१७८ न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः।

१८. **कौटिलीय अर्थशास्त्र** (शामशास्त्री का संस्करण) २।३५ पृ० १४८ समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य...ग्रामाग्रं परिहारकमायुधीयम् **निबंधयेत्**।

१९. एफ० ई० पार्जीटर, **मार्कंडेयपुराण** पृ० ३८०।

२०. एफ० ई० पार्जीटर, **एंशिएंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन** पृ० २६४।

२१. **महाभारत** ७।१८।९; ८।५।४८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वे इन जातियों के साथ युधिष्ठिर के दरबार में उपहार लाते हुए दिखाए गए हैं।[२२] द्रोणपर्व में अद्रिज, मद्रक और मालव के साथ उनका उल्लेख है।[२३] वराहमिहिर ने उनको आर्जुनायन के साथ भारत के उत्तरी भाग में रखा है।[२४] समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में उनकी गिनती आर्जुनायन, मद्रक, मालव, आभीर आदि उत्तर की उन जातियों में हुई है जिन्होंने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया था।[२५] महाक्षत्रप रूद्रदामा के जूनागढ़ के अभिलेख में शकों के साथ उनके युद्ध का वर्णन है जिसमें उन्हें मात खानी पड़ी।[२६] गुप्तसाम्राज्य के अभ्युदयकाल में उनकी सत्ता पूर्वी पंजाब में बहुत दूर तक फैल गई जैसा कि सतलज और यमुना के बीच कांगड़ा, लुधियाना, रोहतक, देहली, देहरादून और सहारनपुर से प्राप्त उनकी मुद्राओं से और रोहतक के पास उनकी टकसाल और सुनेत के पास उनकी मुद्राओं के सांचों की प्राप्ति से परिलक्षित होता है।[२७] उनकी मुद्राओं की नवीन शैली से, जिनपर ब्राह्मी लिपि में 'यौधेय-गणस्य जयः' लेख उत्कीर्ण है और उनका उपास्यदेव कार्तिकेय चित्रित है और जो इस प्रदेश में कुषाण-मुद्राओं के स्थान पर प्रचलित हुई, यह प्रकट हो जाता है कि उन्होंने शकों के उन्मूलन में काफी हाथ बँटाया। लुधियाने से प्राप्त उनकी एक मुद्रा पर जो 'यौधेयानां जयमंत्र-धराणाम्' लेख मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि पंजाब के आयुधजीवी संघों में उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था।[२८] धीरे धीरे वे उत्तरी राजपूताना में फैल गए और भरतपुर तक आ बसे जहाँ उनके एक 'महाराज महासेनापति' का शिलालेख मिला है।[२९] यह महत्व की बात है कि सतलज के तट से बहावलपुर की सीमा तक का प्रदेश आज भी जोहियावार कहलाता है और यौधेयों के प्राचीन उत्कर्ष का साक्ष्य देता है। श्री कनिंघम ने बहावलपुर प्रदेश के जोहिया राजपूतों की पहचान यौधेयों के वंशजों से की है और इनकी तीन शाखाओं का मेल यौधेय मुद्राओं से विदित तीन जातियों के साथ बैठाया है।[३०] इस प्रकार पंजाब में यौधेयों का बहुत प्रमुख स्थान रहा है। युधिष्ठिर के साथ उनके संबंध का सिद्धांत केवल भावात्मक

२२. **वही** २।४८।१४ – १५ काश्मीराः कुन्दमानाश्च पौरवा हंसकायनाः ।
शिवित्रिगर्तयौधेया राजन्या मद्रकेकयाः ॥
अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह ।
वसातयः समौलेयाः सहक्षुद्रकमालवैः ॥

२३. वही ७।१५९।५ यौधेयानद्रिजान् राजन् मद्रकान्मालवानपि ।

२४. **बृहत्संहिता** १४।२८।

२५. फ्लीट, **कोर्पस् इन्सक्रिप्शियोनम् इंडिकारुम** न० १ पंक्ति २२ – १३ मालवार्जुनयौधेयमद्रकाभरिप्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य ।

२६. **एपिग्राफिया इंडिका** भाग ८ पृ० ३६ सर्वक्षत्राविष्कृत वीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन दक्षिणापथपतेः सातकर्णेर्द्विरपि निर्व्याजमवजित्य ।

२७. एलेग्जेंडर कनिंघम' **रिपोर्ट आन दि आर्क्योलोजिकल सर्वे आव इंडिया** भाग २ पृ० १४ – १७।

२८. **प्रोसीडिंग्स आव दि एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल** (१८८४) पृ० १३९।

२९. फ्लीट, **कोर्पस इन्सक्रिप्शियोनम् इंडीकारुम** भाग ३ सं० १ पंक्ति १, यौधेयगणपुरस्कृतस्य महाराजमहासेनापतेः ।

३०. एलेग्जेंडर कनिंघम, **एंशियेंट ज्योग्रफी आव इंडिया** पृ० २८१ – २८२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारों पर ही आधारित नहीं हैं वरन् एक सुदृढ़ ऐतिहासिक भित्ति पर स्थित है। इस तथ्य से प्रकट है कि महाभारत में यौधेय को युधिष्ठिर का पुत्र बताया गया है।[31]

यौधेय और यौतिया

यौधेय जाति का लारिस्तान के यौतिया और ट्रांसकाकेशिया के ऊइतिओइ से असंदिग्ध साम्य है। यौतिया ने ईरानी - भाषा - भाषी जातियों के उस जनसंक्रमण (फ्योल्केरवांडेरुंग) में भाग लिया जिसके फलस्वरूप आठवीं शती ई० पू० में मीड और पर्शु ईरान में फैल गए। यौतिया और मकिया इस आक्रमण में अग्रणी थे। पार्सा इसके मुख्य भाग में तथा असगर्तिया उनके पीछे थे। मद्रा के दबाव से यह संचरण दो भागों में बट गया - दाहिना भाग उत्तरपश्चिम की ओर धंसता हुआ ट्रांसकॉकेशिया तक फैल गया और बायाँ भाग दक्षिणपूर्व की ओर घूमता हुआ पंजाब तक आ पहुँचा जैसा कि इससे पहिले संक्रमण में इन जातियों के पूर्वज एक ओर उत्तरी ईरान और ट्रांसकाकेशिया से होकर आनातोलिया तक पहुँचे और दूसरी ओर उनकी शाखाएँ उत्तरपश्चिमी दर्रों को पार करती हुई सप्तसिंधु प्रदेश में आ घुसीं। इस प्रकार यौतिया, मकिया और असगर्तिया पार्सा के सव्यपक्ष के साथ अर्दलान और आजरबैजान में बस गए और इससे भी उत्तर और उत्तरपश्चिम की ओर बढ़ते हुए आरास और कुर नदियों की निचली घाटी में आबाद हो गए। ट्रांसकाकेशिया में काराबाग और कुर नदी के दक्षिणी तट के बीच जो ऊती (यूनानी, ऊतेने) नामक प्रदेश है वह इस भूभाग में यौतिया के आगमन और निवास का प्रमाण प्रस्तुत करता है।[32] दक्षिण - पूर्व की ओर इन यौतियाओं की सीमा पूर्वी लारिस्तान थी, जैसा कि उनके मुख्य वह्यजदात की राजधानी ताखा की स्थिति से प्रकट होता है, जिसकी पहचान तरुम से की गई है। ये यौतिया हखामनि वंश की अरियरम्नी शाखा के विरुद्ध उठ खड़े हुए और उनका नेता वह्यजदात अपने आपको कुरुश द्वितीय का पुत्र बर्दिय घोषित करके किरिपश् के बड़े लड़के की असली संतति के पुनः संस्थापन के लिये ५२२ – ५२१ ई० पू० में [33] विश्तास्प के पुत्र दारयवउश् से जूझ पड़ा। एक भव्य सैनिक योजना के अनुसार उसने गँदार (गंधार) में कुभा की घाटी पर अधिकार कर लिया और दारयवउश के दो प्रमुख साथी हरह्वतिश् और वाख्त्रीश् के क्षत्रपों के मिलने के मार्गों को काट कर यतगुश् के विद्रोहियों से जा मिलने का प्रयत्न किया। गँदार की ओर उसके इस प्रयाण का ध्येय दक्षिणपूर्वी ईरान में यौतिया साम्राज्य स्थापित करके मीढों के नेता फ्रवतिश् के हाथ मजबूत करना था। किंतु हरह्वतिश् के क्षत्रप विवान ने उसकी योजना की इतिश्री और दारय-

३१. **महाभारत** १।९५।७६ युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैव्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयं वराँल्लेभे। तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम।

३२. यन० आदोन्त्ज, **इस्त्वार द् आरमेनी, लेज़ोरीज़ीन** पृ० ३०८।

३३. सुकुमार सेन, **ओल्ड पर्शियन इंसक्रिप्शंस** पृ० ५३ थातिय दारयवउश् ख्शायथिय मर्तिय वह्यजदात नाम तारवा नाम व्रदनम् यौतिया नामा दह्याउश् पार्सैय अवदा अदारय हौव दुवितीयम् उदपतता पार्सैय्। काराह्या अवथा अथह अदं बर्दिय अम्हि ह्य कुरौश पुस्स.........।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्उश ने गर्व के साथ अपनी इस विजय की घोषणा की।[३४] तदनंतर यौतिया के अस्तित्व को निर्बल करने के लिये उसने उन्हें और उनके साथ मकिया को हरहवतिश् के राज्य में मिला दिया। हिरोदोतस की सूची के अनुसार उन्हें चौदहवें करविभाग में रखा गया और ६०० टैलेंट का विशाल कर उनके कंधों पर लाद दिया गया।[३५]

इस प्रकार यौतिया एक ईरानी भाषा भाषी जाति थी जिसने नवीं - आठवीं शती ई० पू० में मध्यएशिया के घुमक्कड़ लोगों के एक महान जनसंक्रमण में भाग लिया। उनकी एक शाखा ईरान और काकेशिया तक जा पहुँची और दूसरी पंजाब में उतर आई।[३६] यौतिया के पड़ोस में कुरु, कंबोज और वे शक जातियाँ थीं जो हखामनिश् (७०० – ६७५ ई० पू०) के पुत्र और उत्तराधिकारी किश्पिश् (६७५ – ६४० ई० पू०) की सहायक थी और जिनके नामों का संस्मरण इस शाखा के राजा कुरुश् और कंबुजिय के अभिधानों में मिलता है।[३७] इस प्रकार ईरान और भारत में यौतिया का आगमन कुरु जाति के प्रसार से संबंधित है। यौधेय के नाम से संश्लिष्ट युजिष्ठिर का नाम कुरुकालीन भारत में इन लोगों के आगमन का साक्ष्य देता है। यौतिया - यौधेय जाति के साथ इस पांडव योद्धा का जो गहरा संबंध है उसका एक महत्वपूर्ण प्रमाण यौतियानेता वह्नजदात के नाम से प्राप्त होता है। इस नाम में 'वह्नस्' ईरानी शब्द 'वोहु' का तुलनात्मक रूप है जिसका अर्थ 'अच्छा' है। अवेस्ता में वोहु - मनो वह दूसरी आमेशा - स्पेन्ता है जो अहुरमज़्दा के शरीर से प्रादुर्भूत होती है। वोहु - मनो दिव्य ज्ञान है, भगवान् का 'वीर पुत्र' है जो हमें अश के पथ पर ले जाता है।[३८] वह पशुओं का भी संरक्षक है। इस प्रकार अश के साथ संबद्ध वोहु - मनो भारतीय 'धर्म' की भावना से मेल खाता है। युधिष्ठिर को धर्मराज और धर्मपुत्र कहते हैं और यही अर्थ वह्नजदात शब्द का भी है। यह साम्य एकदम आकस्मिक है और इससे कोई विशेष ऐतिहासिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता किंतु युधिष्ठिर और यौधेय – यौतिया की समानता की पृष्ठभूमि में यह उन मौलिक भावनाओं की ओर प्रकाश डालता है जो आख्यानिक वीरों के नामों में प्रच्छन्न रहती हैं।

मद्र जाति के प्रतीक नकुल और सहदेव

हमने ऊपर तीन पांडवबंधु अर्जुन, भीम और युधिष्ठिर के नामों की जातीय व्यंजना का अध्ययन किया। अब हमें नकुल और सहदेव की ओर ध्यान देना है। ये दोनों भाई पांडु और माद्री की संतान थे। उनकी माता माद्री का नाम यह प्रकट करता है कि इन

३४. सुकुमार सेन, **वही** पृ० ५४ – ६० वह्नजदात के अनुयायियों का इतना दमन हुआ कि पर्सिपोलिस के दक्षिणी मकबरे पर जो मातहत जातियों की तालिका दी हुई है उस तक में यौतिया का नाम नहीं है; सुकुमार सेन, **वही** पृ० १७२।

३५. जोर्ज रालिंसन, **हिरोदोतस** भाग २ पृ० (?)

३६. आर्नल्ड जे० ट्वायनबी, **ए स्टडी आव हिस्ट्री** भाग ७ पृ० ६०७ – ६०९।

३७. जी० जी० केमेरोन, **ए हिस्ट्री आव अर्ली ईरान** पृ० १७९ – १८०।

३८. आई० जे० एस० तारापुरवाला, **जोरोआस्ट्रियनिज्म**, कलचरल हेरिटेज आव इंडिया भाग २, पृ० ३३१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों भाइयों का मद्र जाति से घनिष्ठ संबंध था जो उत्तरवैदिक काल में पंजाब में बस गई थी। चिनाब और रावी के मध्यवर्ती प्रदेश में शाकल (स्यालकोट) में केंद्रित मद्रों का राज्य वैदिक अध्ययन और अनुसंधान का प्रमुख स्थान था। इसको मद्रगार शौंगायनी और उद्दालक आरुणि के गुरु पतंचल काप्य जैसे विद्वानों को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। महाभारत में जो अश्वपति और उसकी कन्या सावित्रि का वृत्तांत आया है उससे प्रकट हो जाता है कि प्राचीन काल में ये बड़े धार्मिक समझे जाते थे।[३९] पाणिनि ने उनके पूर्व और अपर विभागों का उल्लेख किया है।[४०] एतरेयब्राह्मण में उत्तरमद्र नाम से उनके उत्तरी निवासस्थान की चर्चा है जो कहीं उत्तरकुरु के पास रहा होगा।[४१]

जर्तों का आगमन और मद्रों का पतन

मद्र, जैसा कि ऊपर कहा गया है, चिनाब और रावी के बीच के प्रदेश में बस गए थे। उनकी राजधानी शाकल (सागल) आपगा नदी के तट पर रेछ्ना दोआब में स्थित थी।[४२] शुरू में मद्र धर्म - कर्म की दृष्टि से पवित्र समझे जाते थे। किंतु बाद में विदेशी जातियों के आगमन और संमिश्रण के फलस्वरूप उनके रीति - रिवाज बिगड़ गए और उनमें विचित्रता की गंध आने लगी। उद्योगपर्व में शल्य के शिविर में रहने वाले योद्धाओं के शस्त्र, कवच, धनुष, ध्वज, वाहन, वेश, आभूषण आदि को विचित्र बताया गया है।[४३] कुरुदेश में इन विचित्र लोगों के आने से एक कुतूहल सा मच गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि जर्तिक या जर्त लोगों के आगमन से मद्रों की संस्कृति में विदेशीपन आ गया था। महाभारत के एक उल्लेख से

३९. **बृहदारण्यकोपनिषत्** ३।७।१ सर्वपल्ली राधाकृष्णन, दि **प्रिंसिपल उपनिषदस्** पृ० २२४; ए० वेबर, **हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर** पृ० १२६।

४०. **पाणिनि सूत्र** ७।३।१३ दिशोऽमद्राणाम्; ४।२।१०८। मद्रेभ्योऽञ्।

४१. **एतरेयब्राह्मण** ८।१४।३, त्सिमर के मतानुसार उत्तरमद्र कश्मीर के निवासी थे। [**आल्तइण्डीशे लेबेन** पृ० १०२]

४२. **महाभारत**, २।३२।१४ – १५ ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम्।
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली॥

कलिंगबोधिजातक (फौसवॉल का संस्करण नं० ४७९) **कुस जातक** (फौसबाल का संस्करण सं० ५३१)।

४३. **महाभारत** ४।८।३४

अक्षौहिणीपतिराजन् महावीर्यपराक्रमः।
विचित्रकवचाः शूरा विचित्रध्वजकार्मुकाः॥
विचित्राभरणाः सर्वे विचित्ररथवाहनाः।
विचित्रस्रग्धराः सर्वे विचित्राम्बर भूषणाः॥
स्वदेशवेशभरणा वीरा शतसहस्रशः।
तस्य सेना प्रणेतारो बभूवुः क्षत्रियर्षभाः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञात होता है कि इन जर्तों ने मद्रों की राजधानी शाकल पर अधिकार कर लिया था।[४४] ये जर्त ताशकंद के आसपास जक्सारतीज नदी के उत्तर में तुखारों के निकट रहने वाले इयातिओई थे जिनकी चर्चा तोलेमी ने अपने भूगोल में की है। रालिंसन के अनुसार वे 'जत' - 'गत' नामक शक थे जिनकी दो शाखाएँ थिस्सगेते (छोटे गत) और मस्सगेते (बड़े गत) नामों से प्रख्यात थीं। एक ओर ये लोग योरोप में फैले और गाथ कहलाए और दूसरी ओर भारत में प्रविष्ट होकर जाट नाम से अभिहित हुए।[४५] ये जाट समस्त पंजाब में व्याप्त हैं। महाभारत में इनकी बड़ी निंदा की गई है और इन्हें शीलवर्जित कहा गया है। विशेषरूप से इनकी गुड़ से बनी शराब पीने की प्रवृत्ति और लहसुन के साथ गोमांस का कबाब खाने की आदत को बड़ी घृणित दृष्टि से देखा गया है।[४६] इन जर्तों या जाटों के मिलने से मद्रों के आचार-विचार भी पतन की ओर चल पड़े थे।

मद्र और ईरान

महाभारत के इस उल्लेख से कि मद्र व्युषिताश्व की संतान थे, जिसका नाम दारियवउश् के पिता विश्तास्प के नाम से मिलता है, यह प्रकट होता है कि यह एक ईरानी जाति थी। यह राजा पांडु के समान क्षयरोग में ग्रस्त था और अपनी पत्नी भद्रा काक्षीवती के साथ संभोग करने से इसकी मृत्यु हो गई। किंतु दैवी वरदान के फलस्वरूप भद्रा के सात पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें से तीन शाल्व और चार मद्र थे।[४७] मद्र को मद्रकार भी कहते थे। मद्रकार ईरानी भाषा का समास है जिसमें 'कार' का अर्थ 'सेना' या 'जनता' है।[४८] पुश्तो में इस शब्द का यह अर्थ अब तक सुरक्षित है।[४९] मद्र शब्द की समानता ईरानी शब्द माद या मेदे या

४४. **वही** ८।४४।१०

शाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा।
जर्त्तिका नाम वाहीकास्तेषां वृत्तं सुनिन्दितम्॥

४५. जोर्ज रालिन्सन, **हिरोदोतस** भाग ३ पृ० १८५, २०६।

४६. **महाभारत** ८।४४।११

धानागौड्यासव पीत्वा गोमांसं लशुनैः सह।
अपूपमांसवाव्यानामशिनः शीलवर्जिताः॥

४७. **महाभारत** १।१२१।७, १७ – १८

व्युषिताश्व इति ख्यातो बभूव किल पार्थिवः।
पुरा परम धर्मिष्ठः पुरोर्वंशविवर्धनः॥
आसीत्काक्षीवती चास्य भार्यापरमसम्मता।
भद्राख्यां मनुष्येन्द्र रूपेणासदृशी भुवि॥
सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ।
त्रीन् शाल्वाँश्चतुरो मद्रान् सुतान् भरतसत्तम॥

४८. सुकुमार सेन, **ओल्ड पार्शियन इंसक्रिप्शंस्** पृ० ३६ अवयाशैय् अथहं परैदिय् कारह्य हमिस्सिय मना नैय् गौबुतेय अवं जदिय्।

४९. जोर्ज मोर्गन्सटियर्न, **एटीमोलोजीकल वोकेबुलेरी आव पुश्तो**; जार्ल शार्पेंतिए, **सम रिमार्कस् आव पुश्तो एटीमोलोजी,** एक्टा ओरियंटेलिया, भाग ७ पृ०१८८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीड से प्रतिपादित की गई है।[५०] मद्रों की माता भद्रा और मीडों की माता मीदिया के कथानकों में भी बहुत कुछ साम्य मिलता है।[५१] सिल्युस्की ने उत्तरपश्चिमी भारतीय कथानक के स्थायी स्वरूप के आधार पर सिद्ध किया है कि मद्रों पर शकों का भी काफी प्रभाव पड़ा। इस कथानक के अनुसार राजा अपने धार्मिक कृत्य में बलि दिए गए बारहसिंगे के शरीर में प्रवेश करता है और उसका प्रतिद्वन्द्वी भी एक बारहसिंगे का रूप धारण करके उसकी पत्नी से संभोग करता है। इस कथानक में बारहसिंगे को जो महत्त्व मिला है वह शक प्रभाव के कारण है क्योंकि शकों में भी बारहसिंगे का महत्वपूर्ण स्थान था जैसा कि उनकी कला से प्रकट होता है।[५२] सिल्युस्की ने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि शरभंगजातक (फौसबाल सं० ४८३) में राजर्षि पौरव को शरभ का अवतार बताया गया है। ऋष्यशृंग के आख्यान पर भी बारहसिंगे से संबंधित कथानकों का प्रभाव स्पष्ट है। यह भी लक्ष्य करने की बात है कि मद्रों की राजधानी शाकल का संबंध मेंढक से है जिसके पास सोने के मेंढे थे। सोने के मेंढे का यह आख्यान स्वर्णिम ऊन वाले उस मेंढे की दंतकथा से मिलता है जिसे अर्गोनोट लोगों ने पांट के उत्तर में जीता था। वस्तुतः मध्यएशिया के घुमक्कड़ लोगों में मेंढे का बड़ा महत्त्व है। इन तथ्यों से ज्ञात होता है कि मद्रों का ईरानी और शक जगत् से गहरा संबंध था।[५३]

मद्र युवतियाँ

मद्र अपनी स्त्रियों के सौंदर्य के लिये प्रसिद्ध थे। उनकी लंबी, गोरी और सुंदर स्त्रियाँ दूर दूर तक प्रख्यात थीं।[५४] कर्णपर्व में एक मद्र को, जो कुरुराष्ट्र में आ बसा था शतद्रु और इरावती के पार अपने देश में लौटने पर, वहाँ की स्त्रियों के साथ रमण करने की इच्छा से

५०. हारीतकृष्ण देव, **मीड एंड मद्र**, जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल (१९२५) पृ० २०५।

५१. ज्याँ सिल्युस्की, **नूवोज़ास्पेक्त दु लिस्त्वार दे स्किथ**, रव्यु द ल्युनिवर्सिते द ब्रुसेल्स, भाग ४२ (१९३७) पृ० २१८।

५२. ज्याँ सिल्युस्की, **आनासियाँ पप्ल दु पाँजाब, ले साल्व** जर्नाल आज़ियातीक (१९२९) पृ० ३३७।

५३. ज्याँ सिल्युस्की, **आनासियाँ पप्ल दु पाँजाब लेसुदुम्बर** जूर्नाल आज़ियातीक (१९२६) पृ० ४-८; **नूवोज़ास्पेक्त दु लिस्त्वार दे स्किथ** (उपर्युक्त) पृ० २१८। **महाभारत** १।६७ के अनुसार शाल्व को असुर अजक का अवतार बताया गया है। मुद्राओं से एक उदुम्बर राजा अजमित्र का पता चलता है जिसका नाम अजक से मिलता-जुलता है। यह उल्लेखनीय है कि भद्रंकर अर्थात भद्रशैल (स्यालकोट) का उपास्य यज्ञ खरपोस्त था जो एक ईरानी शब्द है और गधे की खाल पर लिखी हुई पुस्तक का द्योतक है।

५४. **महाभारत** ८।४४।१८

मनः शिलोज्ज्वलापांग्यो गौर्यस्त्रिककुदां जनाः।
कंबलाजिनसंवीताः क्रंदंत्यः प्रियदर्शनाः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिह्नल दिखाया गया है।[५५] पाली अट्ठकथाओं में मगध के महातित्थ नामक ग्राम के एक ब्राह्मण पिप्पली माणवक की कथा आई है। उसके पिता ने उसके लिये एक स्वर्णप्रतिमा जैसी पत्नी ढूँढ़ने के लिये आठ दूत नियुक्त किए थे। ये दूत यह सोचकर कि मद्रदेश सुंदर स्त्रियों का आगार है (मद्धरट्ठं नाम इत्थागारो) मद्रों के शाकल नगर में गए जहाँ उन्हें भद्रा कापिलायनी के दर्शन हुए। वह उस स्वर्णप्रतिमा से भी अधिक सुंदरी थी जिसके अनुरूप कन्या की उन्हें खोज थी। तत्पश्चात् भद्रा और पिप्पली का परिणय निश्चित हो गया और विवाह के ठीक पश्चात् उन्होंने बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली।[५६] इस आख्यान से पता चलता है कि बुद्ध भगवान के काल में मद्र की सुंदरियाँ सुदूर मगध तक प्रख्यात थीं। मद्रों में एक प्रथा यह थी कि कन्या को मूल्य लेकर आसुर पद्धति से ब्याहा जाता था। जब माद्री का विवाह पांडु से होने को था तो शल्य ने भीष्म से मूल्य देने का आग्रह किया। शल्य ने कहा कि यह उनकी प्राचीन कुलप्रथा है जिसका उल्लंघन करना उचित नहीं है।[५७] इससे ज्ञात होता है कि मद्रों के वैवाहिक नियम और दांपत्य प्रथाएँ कट्टर ब्राह्मणधर्मावलंबी आर्यों से विभिन्न थीं और वे आर्य-संस्कृति से बाहर माने जाते थे।

मद्र और शाल्व

प्रारंभ में मद्र शाल्वनामधारी ईरानी जनसमूह में गिने जाते थे। शाल्वों की चर्चा गोपथ ब्राह्मण (१।२।९), शतपथ ब्राह्मण (१०।४।१।१०) और पाणिनिसूत्रों (४।१।१६७, ४।३।१६६) में पाई जाती है।[५८] एक वैदिक ग्रंथ से पता चलता है कि उन्होंने यमुना के तट पर अधिकार कर लिया था और वहाँ बैठ कर उनकी स्त्रियों ने चरखे चलाने शुरू कर दिए थे।[५९] महाभारत में उनका मत्स्यों के साथ जो उल्लेख

५५. वही ८।४४।१७

शतद्रुकामहं तीर्त्वा तां रम्यामिरावतीम्।
गत्वा स्वदेशं द्रक्ष्यामि स्थूलशंखाः शुभाः स्त्रियः॥

५६. संयुत्तनिकाय-अट्ठकथा १५।१।११, अंगुत्तरनिकाय - अट्ठकथा १।१।४, थेरगाथा - अट्ठकथा ३०, थेरीगाथा - अट्ठकथा ६८।

५७. महाभारत १।१२२९

पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित्कुलेऽस्मिन्नृपसत्तमैः।
साधु वा यदि वासाधु तन्नातिक्रांतुमुत्सहे॥
कुलधर्मः स नो वीर प्रमाणं परमं च तत्।
तेन त्वां न ब्रवीम्येतदसंदिग्धं वचोऽरिहन्॥
तं भीष्म प्रत्युवाचेदं मद्रराजं जनाधिपः।
धर्म एषः परो राजन् स्वयमुक्तः स्वयंभुवा॥
नात्र कश्चन दोषोऽस्ति पूर्वैर्विधिरयं कृतः।

५८. पाणिनिसूत्र ४।१।१६७ साल्वेयगांधारिभ्यां च, ४।३।१६६ लुप् च।

५९. ज्याँ सिल्युस्की, 'आनासियाँ पप्ल दु पंजाब, ले साल्व' (उपर्युक्त) पृ० ३१४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आया है उससे प्रतीत होता है कि वे अलवर तक पहुँच चुके थे।[६०] चंद्रव्याकरण की चंद्रवृत्ति[६१] में लिखा है कि कांगड़ा घाटी के उदुंबर (जिनकी राजधानी पठानकोट थी), होशियारपुर जिले के पास ब्यास के दक्षिणी प्रदेश के तिलखल (महाभारत (६।१०।५१) के तिलभर), स्यालकोट पर केन्द्रित चिनाब और रावी के मध्यवर्ती प्रदेश के मद्रकार, यमुना के किनारे जगाधरी के पास वर्तमान औद्योगिक नगर यमुनानगर (अब्दुल्लापुर) के निकट रहने वाले युगंधर, साकेत और केकय के राजमार्ग पर अरावली की श्रेणियों के उत्तर-पश्चिम में बसनेवाले भूलिंग (महाभारत ६।१०।३८ के कुलिंग और तोलेमी के कोलिंगे) और प्राच्य तथा उदीच्य पांचालों की सीमा पर शरावती नदीके समीप बसने वाले शरदंड — शाल्व समूह के सदस्य थे। सिल्युस्की के मतानुसार शाल्व शब्द का अर्थ बारहसिंगा या हिरन जैसा कोई पशु है। इस शब्द की धातु से ही शरभ शब्द की व्युत्पत्ति हुई है जो बारहसिंगे की किस्म का एक आख्यानिक पशु है। शाल्वों में शरभ का शिकार चक्रवर्ती राजा के राज्यारोहण की विधि का एक विशेष अंग था। मध्य-एशिया के लोगों में, विशेषतः शकों में, इन पशुओं का बड़ा महत्त्व था।[६२] इस प्रकार शाल्व जाति का नाम ही उनकी शकउत्पत्ति का परिचायक है। वर्तमान पंजाब में जो 'सलूआ' नामक जाति पाई जाती है वह इन्हीं प्राचीन शाल्वों की वंशज है। कालांतर में मद्रों का अपना महत्त्व भी बढ़ गया था।

मद्र, भद्र, मालव

प्राकृत में मद्र शब्द मल्ल बन जाता है क्योंकि 'द्र' का 'ल्ल' हो जाता है।[६३] मल्ल यूनानी लेखकों का मलोइ और महाभारत का मालव है।[६४] यह महत्त्व की बात है कि यम के आदेश से मद्रनरेश अश्वपति के पुत्र मालव कहलाए। इससे पता चलता है कि मद्र और मालव वस्तुतः एक ही थे। भीष्मपर्व में उनके प्रतीच्य और उदीच्य भागों की अलग अलग चर्चा की गई है। फिरोजपुर, लुधियाना, पटियाला, जीन्द और मलेरकोटला के सिख अब तक मालव सिख कहलाते हैं। संभवतः इन प्रदेशों में प्राचीन काल में मालव लोग आबाद थे। ईसवी संवत के आरंभ में मालव लोग दक्षिण की ओर चले गए और मध्य तथा दक्षिणपूर्वी राजपूताने में जा बसे। सिल्युस्की के अनुसार शाल्व समुदाय की प्रमुख जातियाँ मद्र और उदुंबर, मालव और क्षुद्रक नामों से प्रख्यात हुईं जिनका संबंध यूनानी इतिहासकारों और पाणिनि के टीकाकारों से स्पष्ट है।

मद्र का एक पाठ भद्र भी था। काशिका में मद्रकार के स्थान पर भद्रकार पाठ मिलता

६०. **महाभारत**, (विराटपर्व) २६, २, (भीष्मपर्व) १०।३ (उद्योगपर्व) ४।२४।

६१. **चंद्रव्याकरण** २।४।१०३ उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगंधराभुलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वावयव संज्ञिताः॥

६२. सिल्युस्की, **ले साल्व** (उपर्युक्त) पृ० ३१२ – ३२५।

६३. पिशल, **ग्रामाटिक डेयर प्राकृत-स्प्राखन**, विभाग २९४। जूल ब्लॉक, **ला फोरमासियों द् ला लाग माराथ**, विभाग १४१।

६४. सिल्युस्की, 'लेजुदुंबर' (१९२६) पृ० १ – २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मूल सर्वास्तिवादियों के विनय में मद्रों की राजधानी शाकल को भद्रंकर कहा गया है।[६५] ऐसा लेख मिलता है कि प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक ने तक्षशिला से भद्रंकर की यात्रा की और वहाँ सर्दी बिताकर वह उदुंबर देश में चला आया जहाँ उसने एक रोगी का उपचार किया। फिर वहाँ से वह मथुरा की ओर रवाना हो गया। महामायुरी में लिखा है कि भद्रपुर में शैल यक्ष की पूजा होती थी।[६६] यह भद्रपुर भद्रंकर का रूपांतर है जो शाकल का दूसरा नाम था।[६७] 'भद्र' 'भल्ल' बन जाता है जिस प्रकार 'मद्र' 'मल्ल' हो जाता है। पाणिनि सूत्र (४।२।७५) के गणपाठ में भल्ल मल्ल के पहिले दिया हुआ है। पंजाबी में स्पर्श वर्ण निघृत हो जाते हैं और हिमाचल-प्रदेश की पट्टी की बोलियों में हकार का सर्वथा लोप हो जाता है। अतः 'भ' का उच्चारण 'प' हो जाता है और भल्ल पह्लव बोला जाता है जो ईरानियों का नाम है। इन शब्दों का एक पाठ बाह्लकि भी है जो बक्त्र के निवासियों का द्योतक है। सारांश यह है कि मद्र नरेश अश्वपति की भार्या मालवी, मद्रों की माता भद्रा और पांडु की पत्नी माद्री (नकुल और सहदेव की जननी) का उपनाम बाह्लिकी इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि ये लोग ईरानी - बक्त्री परिवार से संबंधित थे। दूसरे शब्दों में नकुल-सहदेव मद्रों के प्रतीक हैं जो माद या मीड जाति के थे।

पांडु और पांडूऊई

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पांचो पांडवबंधु एक ऐसे जातीय समुदाय के प्रतीक हैं जो भारत और ईरान में समान रूप से ज्ञात था। उनके इतिहास के अन्य पक्षों पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक लगता है कि उनके सामूहिक नाम 'पांडव' शब्द पर भी दृष्टिपात किया जाए। हम देख चुके हैं कि उनके पिता पांडु का पीतवर्ण इस बात का द्योतक है कि उनमें कुछ उत्तर-पश्चिम के किरात तत्व भी मिल गए थे। पालि ग्रंथों से ज्ञात होता है कि गंधार का राजा कुसाति, जो मगध-नरेश बिंबिसार का समकालीन था, एक पांडव नामक जाति से लड़ा था।[६८] तोलेमी ने एक पांडुऊई नामक पंजाबी जाति की चर्चा की है[६९] और

६५. ज्याँ सिल्युस्की, **ल नोदूँए द् लेंद दाँ ल विनय दे मूलसर्वास्तिवादें,** जूर्नाल आजियातीक (१९१४) भाग २ पृ० ४६३।

६६. सिलवें लेवी, **ल कातालोग जेओग्राफीक दे यक्ष दाँ ला महामायुरी,** जूर्नाल आजियातीक (१९१५) भाग १ पृ० १९।

ककुच्छंदः पाटलिपुत्रे स्थूणायां चापराजितः।
शैलो भद्रपुरे यक्ष उत्तराया च मानवः॥

६७. फ्लीट, **अक्त द्यु कातोर्जिएम काँग्रेस देज़ोरियाँतालिस्त** (१९०५) पृ० १६४।

६८. टी० डब्ल्यु रीज़डेविड्स् **बुद्धिस्ट इंडिया** पृ० २८, जी० पी० मालाला शेखर, **डिक्शनरी आव पाली प्रोपर नेम्स** भाग २ पृ० २१५ फेलिक्स् लासोत, **एसे आन गुणाढ्य एंड दि बृहत्कथा** (रेवरेंड ए० म० टेबर्ड का अंग्रेजी अनुवाद) पृ० १७६, **पपंचसूदनी,** भाग २ पृ० ९८२।

६९. **इंडियन एंटीक्वेरी** भाग १३ पृ० ३३१, ३४९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रायचौधुरी ने उसकी पहचान आर्जुनायन से की है।[७०] मार्कंडेयपुराण में पांडव का वर्णन उत्तर-पश्चिम की जातियों, उदाहरणार्थ कंबोज, परव और दरद के साथ हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि पांडव भी एक जाति विशेष का परिचायक और प्रतीक है।

पांडवबंधुओं की जातीय व्यंजना

पांडवबंधुओं की संख्या पांच का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। योरेशिया के घुमक्कड़ दल प्रायः कबीलों के समूह होते थे और अपने आपको 'अमुक अमुक इतने' इस प्रकार अभिहित किया करते थे। उदाहरण के लिए 'तुगुर के दस कबीले' (ओनुगुर) 'आशीं के नौ कबीले' (तोकूज आशीन्) 'खसी के चार कबीले' (चहार तोमिस्तान) आदि इस प्रकार के संख्यापरक अभिधान हैं। पांडव भी पाँच जातियों के समूह के प्रतीक हैं, आर्जुनायन, वृक, यौधेय और दो मद्र जाति जिनकी संख्या ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। केस्पियन सागर के दक्षिण में कजवीन और अर्दलान का मध्यवर्ती प्रदेश 'खमसाह' कहलाता था। 'खमसाह' अरबी भाषा का शब्द है और इसका अर्थ पाँच है। इस प्रदेश में प्राचीन असुरों (असीरिया के लोगों) ने उर्मियाह की घाटी के दक्षिणी छोर पर झील और पशुवा के बीचोबीच असगर्त के स्वतंत्र राज्य की सीमा पर और मन्नई के पास एक सैनिक दुर्ग स्थापित किया था जिसका नाम उन्होंने पंजिश रखा।[७१] सार्गोन ने अपने ७१४ ई० पू० के आठवें अभियान के वृत्तांत में पंजिश के किले की चर्चा की है जो जिकिर्तु और अंदिया के विरुद्ध असुरों की प्रधान चौकी थी।[७२] यह शब्द पंजिश् 'पंज' (संस्कृत पञ्च) का असुरी रूप है और 'खमसाह' इसका अरबी पर्याय है। उनका अर्थ 'पाँच' है। ये एक ईरानी स्थान नाम के परिचायक हैं जो "पांचजातियों" के संक्रमण का प्रतीक और अवशेष रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि पांडव-बंधु जिन पांच जातियों के प्रतीक हैं, उनका योरेशिया के एक घुमक्कड़ दल के वाम पक्ष से संबंध था। इनका सव्यपक्ष उर्मियाह झील के निकट कजवनि और आरास और कुर नदियों की घाटियों के बीच के पर्वतीय प्रदेश में आ पहुँचा और इसे 'पंज' या 'पंजिश' नाम से पुकारने लगा।

हमारे इस अनुसंधान का सार यह है कि पांडवबंधु पांच जातियों के प्रतीक हैं जो मध्य-एशिया से भारत में प्रविष्ट हुईं। इन जातियों में से कुछ ईरान में भी घुसीं। इस जातीय समूह के आर्जुनायन और वृकों में शक तत्व संमिलित थे और यौधेय तथा मद्रों में ईरानी तत्वों का बाहुल्य था।

इस प्रकार इन जातियों का आगमन उत्तरी भारत के शक - ईरानी आक्रमण का द्योतक प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि इन जातियों में उत्तरपश्चिम के कुछ किरात तत्व

७०. हेमचंद्र रायचौधुरी, **पोलिटिकल हिस्ट्री आव एंशिएंट इंडिया** (पंचम संस्करण) पृ० ५४५।

७१. ए० फोरेर, डी **प्रोविन्त्साइनताइलुंग देज आसीरिशन राइशेस्** पृ० ७५; एन० आदोन्त्स, **हिस्त्वार दारमेनी, लेजोरीजीन** पृ० १०२, ३६७।

७२. डी० डी० ल्युकन बिल, **एशिएंट रिकार्डस आव असीरिया एंड बेबीलोनिया,** भाग २, पृ० १५०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी मिल गए हों। यह एक बड़ी विशेषता है कि हमारे पास इसका ऐतिहासिक साक्ष्य मौजूद है कि शकों ने भारत पर ईसवी संवत् से कई शताब्दियाँ पहिले एक आक्रमण किया था। देखना यह है कि इस आक्रमण की, इस जातीय अभियान से, जिसके प्रतीक पाँच पांडव-बंधु हैं, किस प्रकार संगति बैठती है।

नवीं शताब्दी ई० पू० का भारतीय शकआक्रमण

प्रोफेसर सिल्युस्की ने सिद्ध किया है कि मद्रों की राजधानी शाकल और रावी तथा चिनाव के मध्यवर्ती शाकलद्वीप के नाम 'शक' शब्द पर आधारित और शक आक्रमण के द्योतक हैं। इसी प्रकार, गौतमबुद्ध की शाक्य जाति का नाम 'शक' शब्द का संकेत करता है। यह लक्ष्य करने की बात है कि पाणिनिव्याकरण में शाक्य को शक शब्द से सिद्ध किया गया है। सूत्र ४।३।९२ में शाण्डिक्य जैसे एक शब्दों के समूह की सिद्धि बताई गई है जिनमें 'ञ्य्' प्रत्यय जुड़ता है और फलतः प्रारंभिक स्वर की वृद्धि हो जाती है।[७३] शाक्य निर्वासित शंबक का नाम भी सिल्युस्की के अनुसार शकों का प्रतीक है।[७४] इसे दिव्यावदान में श्यामक और यूनानी लेखकों की कृतियों में सियाउआकोस कहा गया है। तिब्बती दुल्वा के अनुसार इसे कोसलनरेश विडुडभ के शाक्यआक्रमण के समय कुछ लोगों की हत्या करने के अपराध में देशनिकाला दिया गया था और वह वकुड देश में जा बसा था। वहाँ उसने शकों में प्रचलित बारहसिंगे के महत्त्व और पवित्रता के सिद्धांत को प्रतिपादित और प्रचलित किया था। सिल्युस्की का यह भी मत है कि बुद्ध भगवान ने स्त्रियों और पुरुषों की समानता का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया और अपने मातृपक्ष को जो प्रधानता दी, जैसा कि उनके सबसे पहिले अपने मातृपक्ष के दो व्यक्तियों को और तत्पश्चात् पितृकुल के तीन व्यक्तियों को दीक्षित करने की किंवदंती से प्रकट होता है, वह सीथियों, विशेषतः इसेदोन लोगों में प्रचलित स्त्रियों की और फलतः मातृपक्ष की प्रमुखता से मेल खाती है।[७५] प्राचीन भारत में राजत्व का जो सूर्याश्रित विधि-विधान था, उस पर भी मध्य-एशिया का प्रभाव परिलक्षित होता है। वाजपेययज्ञ में घोड़ों से जुड़े हुए रथों की दौड़ और अश्वमेध यज्ञ में घोड़े के परिभ्रमण और वध स्तेपीज की कुछ प्रथाओं की याद दिलाते हैं जिनका उल्लेख चीनी लेखकों ने किया है। देन्यूब नदी की घाटी में लोहे का प्रचार भी, जो हेल्सताल की संस्कृति का प्रधान लक्षण है, सीथियों के संक्रमण का परिणाम है। सिल्युस्की के शब्दों में स्तेपीज् के महान् मार्ग योरोप और एशिया के महाद्वीप की धुरी हैं। इसी राजमार्ग के किनारे किनारे ईसा से पूर्व की प्रथम सहस्राब्दि में लोहे के प्रयोग और उससे संबंधित प्रक्रिया का ज्ञान फैला। इसके अतिरिक्त राज-

७३. पाणिनिसूत्र ४।३।९२ शण्डिकादिभ्यो ञ्यः। इस सूत्र के गणपाठ में 'शक' शब्द भी आया है जिससे 'शाक्य' बनता है। गणपाठ इस प्रकार है—शाण्डिक, सर्वकेश, सर्वसेन, शक, शट, वह, शंख, बोध।

७४ राकहिल, लाइफ आव दि बुद्ध पृ० ११८; दिव्यावदान (कॉवेल का संस्करण) पृ० ५८०, सिलवें लेवी कातालोग ज़ेओग्राफीक दे यक्ष दाँ ल् म[illegible]मायुरी (उपर्युक्त) पृ० ६१. ७३, ६७।

७५. ज्यॉ सिल्युस्की, नूवोजास्पेक्त द् लिस्त्वार दे स्किथ (उपर्युक्त) पृ० २०६ – २२३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिक और धार्मिक जगत की कुछ प्रमुख नवीनताएँ और आविष्कार जैसे सूर्य से संबंधित धार्मिक कृत्य और सार्वभौम राज्य का सिद्धांत इस मार्ग से प्रसरित हुए। सांस्कृतिक तत्वों के इस प्रचार में, जिनको विभिन्न सभ्यताओं ने ग्रहण करके क्रमशः समृद्धि प्राप्त की, सिथियों का कोई बहुत गहरा योग प्रतीत नहीं होता। उन्होंने विशेषरूप से उस सबका प्रसार किया जिसे औरों ने बनाया और ईजाद किया था। वे उन कीड़ों की तरह काम करते थे जो एक फूल से दूसरे फूल में परागकण पहुँचाते हैं।[७६]

ई० पू० दूसरी शती से बहुत पहिले भारत में शकों के आगमन का साक्ष्य पंजाब के उन नगरों के नामों से मिलता है जिनके अंत में 'कन्थ' शब्द प्रयुक्त होता था। ऐसे नगर वर्णु[७७] और उशीनर[७८] प्रदेशों में मिलते थे। रावी से कनखल तक और उससे भी परे[७९] ऐसे नगर पाए जाते थे। पाणिनिसूत्र ६।२।१२५ में 'कंथ' युक्त स्थाननामों का निर्देश है और गणपाठ में चीहणकन्थ, मडरकन्थ, वैतुलकन्थ, पटत्ककन्थ, वैडालीकर्णकंथ, कुक्कुटकंथ और चित्कणकंथ के नाम दिए हुए हैं।[८०] मूलसर्वास्तिवादियों की विनय से ज्ञात होता है कि भगवान बुद्ध उत्तरपश्चिम के एक कंथा (तिब्बती, कन्-था) नामक ग्राम में गए जहाँ उन्होंने एक पक्षी और उसके परिवार को दीक्षा दी।[८१] 'कंथ' शक भाषा का शब्द है और इसका अर्थ 'नगर' है। यह शब्द खरोष्ठी अभिलेखों के 'कथवर' – 'कंथावर' फारसी के 'कंद', खोतानी के 'कंथा', सुग्धी के 'कथ', पुश्तो के 'कंदे' और यू-ची की भाषा (जिसे बेली ने 'असिका' नाम दिया है) के 'कंदा' या 'कोईइंत' शब्दों के परिवार का है।[८२] यह महत्त्वपूर्ण बात है कि वंक्षु के पार का प्रदेश जो शकों का आदिम निवास-स्थान था 'कंथ' युक्त नगर-नामों से भरपूर है। समरकंद, खोकंद, चीमकंद, ताशकंद, पंजकंद, यारकंद आदि नगर इस प्रदेश के प्रमुख स्थान हैं। शक आकृति के इन स्थानवाची शब्दों का संपूर्ण पंजाब में वर्णुवाटी से कनखल तक और उससे भी परे पाया जाना इस तथ्य का साक्ष्य देता है कि आचार्य पाणिनि के काल से भी पहिले, सिकंदर से कुछ पूर्व, इस प्रदेश में शकों का आक्रमण हो चुका था।[८३] कात्यायन के एक वार्तिक में अरघट्ट से चलने वाले कुए कर्कंधु के साथ जिस पैंडी वाले कुएँ शकंधु का

७६. ज्यॉ सिल्युस्की, ले स्किथ ए ला प्रोपागासियों द् ला सिविलिज़ासियों द् हाल्स-तात, र्व्यु द् ला यूनिवर्सिते द् ब्रूसेल्स, भाग ४२ (१९३६ – ३७) पृ० ३०७।

७७. पाणिनिसूत्र ४।२।१०३ वर्णौ वुक्।

७८. वही २।४।२० संज्ञायां कन्थोशीनरेषु।

७९. वही ४।२।१४८ कंथापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदात् उदाहरणार्थ दाक्षिकंथीयम्, देखिए ४।२।१०२ कंथायाष्ठक्; वही ६।२।१२४ कंथा च; वही ६।२।१२५ आदेश्चिहणादीनाम्।

८०. पाणिनिसूत्र ६।२।१२५ आदिश्चिहणादीनाम्।

८१. ज्यॉ सिल्युस्की, लू नोर्दूए द् लेन्द उपर्युक्त पृ० ५१३।

८२. स्टेन कोनो, कार्पस् इंसक्रिप्शियोनम इंडीकारुम भाग २, भूमिका पृ० ४३; शक स्टडीज़ पृ० ४८, १४९; एच० डब्ल्यू० बेली, असिका, ट्रांजेक्शन्स् आव दि फाइलोलो-जिकल सोसायटी (१९४५) पृ० २२ – २३।

८३. वासुदेवशरण अग्रवाल, इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि पृ० ६८; सम फॉरिन वर्ड्स् इन एंशिएंट संस्कृत लिटरेचर, इंडियन हिस्टारिकल कार्टरली (१९५१) पृ० ११ – ११।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लेख मिलता है, वह भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।[८४] एरियानस के इस कथन से भी कि सिकंदर के आक्रमण के समय शक भारत की उत्तर - पश्चिमी सीमा पर विद्यमान थे इस बात की पुष्टि होती है।[८५] शकों के आक्रमण का यह उमड़ता हुआ सागर उत्तरपश्चिमी प्रदेश से फैल कर भारत की पूर्वी सीमाओं तक प्रसरित हो गया था। पुराणों में यह उल्लेख मिलता है कि राजा बाहु के काल में शक अयोध्या तक बढ़ आए थे और उसके पुत्र सगर ने उनको रोका तथा निर्वासित किया था।[८६]

ईसवी पूर्व नवीं आठवीं शताब्दि का ईरानी - शक - आक्रमण

शकों के इस आक्रमण से उत्तरी भारत ही आप्लावित नहीं हुआ वरन् ईरान और सीसतान भी विनिमज्जित हो गए। हखामनिश् के पुत्र किश्पिश् (तिस्पीश्) का नाम किम्री योद्धा तयस्पु के नाम से मिलता है जो ६८१ – ६६८ ई० पू० में असुरी सम्राट् ईसरहद्दन से लड़ा था।[८७] यह महत्व की बात है कि हिरोदोतस के अनुसार किश्पिश की पत्नी का नाम जो कुरुश् प्रथम की माता थी, स्पाको (कुतिया) था। यह नाम शक योद्धा इस्पकाई की याद दिलाता है जो किम्री के पीछे पीछे ईरान में घुस गया था।[८८] किश्पिश् और स्पाको के नाम किम्री और सीथी लोगों के पारस्परिक संबंध के द्योतक हैं जिन्होंने ईरान में हखामनि साम्राज्य की स्थापना में काफी सहयोग दिया।

किम्री और सीथी, असुरी लेखों के गिमिरै और इश्कुजै, आपस में एक दूसरे से संबंधित थे। ये एक सी भाषाएँ बोलते थे और लूटमार से गुज़र करते थे। सारगोन द्वितीय के राज्य-काल में उरार्तु पर इनके आक्रमण का ज्वार उमड़ा और यद्यपि वे परास्त होकर भागने पर विवश हुए, उन्होंने देश को इतना बर्बाद कर दिया कि वहाँ के राजा रूसस् प्रथम को निराश होकर आत्महत्या करनी पड़ी। किम्री दो भागों में बँट गए थे, इनका एक भाग कशश्रित की सहायता के लिये उर्मियाह झील के किनारे पर आ धमका और इनका अश्वारोही भाग एशिया माइनर में घुस पड़ा और उसने वहाँ के फ्रीजी और लीडी राज्यों का विध्वंस कर डाला। इसके कुछ समय बाद असुर देनीपाल ने उनको साइलिसिया की पहाड़ियों में परास्त किया और उनके बचे - खुचे अंश भाग कर सीथियों से जा मिले। इसरहद्दन के काल में सीथी उर्मियाह झील के दक्षिणी और दक्षिणपूर्वी भाग में बस गए और साफिज नामक नगर में उन्होंने अपनी राजधानी स्थापित की। इस नगर का नाम शकों के नाम का अवशेष है। परतदुआ नामक राजा, जो हिरोदोतस द्वारा वर्णित प्रोतोथाइस है, के नेतृत्व में उन्होंने आज़र-

८४. **पाणिनिसूत्र** १।१।६४ पर वार्तिक शकन्दवादिषु पररूपं वाच्यम्।
८५. प्लेवियस अरियनुस, **एनेबेसिस एलेग्जंड्री** (लोएब क्लासिकल लायब्रेरी में इलिफ रॉबसन का संस्करण भाग २ पृ० २३४।
८६ **विष्णुपुराण** ४।३; **वायुपुराण** अध्याय ८८, **ब्रह्मांडपुराण** अध्याय ६३।
८७. डी० डी० ल्युकनबिल, **एशिएंट रिकार्डस् आव असीरिया एंड बेबीलोनिया** भाग २१ पृ० ५१६, ५३०, ५४६।
८८. **वही** भाग २ पृ० ५१७, ५३३; कोइनिक्, **आलतेस्ते गेशिश्ते डेयर मीदेर उन्द पर्सेर** (लाइपत्सिक् १९३६) पृ० ३७ – ३१। यहाँ हिरोदोतस १।११० की व्याख्या है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैजान के काफी बड़े हिस्से पर पैर जमा लिए। इसी बीच उरार्तु असुरिया के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और वहाँ के सम्राट ने शकों से सहायता माँगी। इससे परततुआ की इतनी हिम्मत बढ़ी कि उसने असुरी राजकुमारी से विवाह करने का प्रस्ताव किया। परततुआ के पुत्र मेद्रोस् के युग में शकों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ी और उसने मीडिया पर अधिकार करके हिरोदोतस के कथनानुसार वहाँ २८ वर्ष (६५३ - ६२५ ई० पू०) राज्य किया। इस सफलता से शकों को असुरी साम्राज्य को चुनौती देने का साहस हुआ और उन्होंने पश्चिम की ओर आक्रमण कर दिया। असुरिया को नष्टभ्रष्ट करते हुए उन्होंने एशिया माइनर, उत्तरी शाम, फिनीशिया, दमिश्क और फलस्तीन में तबाही मचा दी। उनके आक्रमण का संस्मरण जेरेमियाह की पुस्तक (४।१३) में दी हुई एक भविष्यवाणी में है। इसमें लिखा है कि 'एक राष्ट्रों का संहारक चला आ रहा है। देखो, वह बादलों की तरह आएगा, उसका रथ आँधी जैसा होगा, उसके घोड़े बाजों से ज्यादा तेज होंगे। हाय, हाय, हम मर मिटेंगे।'[८९] शकों के इस बढ़ते हुए तूफान को मिस्र के फारोआ ने रोका। इधर ईरान में मीड राजा साइखारेज़ ने उनका ढंग अपना कर अपनी सेना को सुसंगठित किया और फिर मेदिस् को करारी मात दी। सीथी आक्रमण की ध्वनि हिरोदोतस् और अरियन के इस लेख में सुनाई देती है कि सिकंदर के हमले से पहिले 'शक इदन्थिर्सस् ने सीथिया से निकलकर एशिया की बहुत सी जातियों पर विजय प्राप्त की और वह मिस्र से भी परे तक जीतता चला गया।'[९०]

लूरिस्तान में इन योरेशिया के घुमक्कड़ लोगों के आगमन का प्रमाण वहाँ की कांस्यकला की 'पशु - शैली' है। यह शैली एक विशाल प्रदेश में फैली मिलती है जिससे पता चलता है कि किरिपश् के समय में ये शक लोग लूरिस्तान से फर्स तक बस गए थे।[९१] लूरिस्तान की काँस्यकृतियाँ एक ऐसे अश्वारोही और रथी योद्धाओं का साक्ष्य देती हैं जो एक जगह बसकर रहने के विरुद्ध थे और चलते फिरते रहने में ही आनंद मानते थे। इसलिये ये लोग ऐसी चीजों को ज्यादा पसंद करते थे जो आसानी से उठाई और ले जाई जा सकें। यद्यपि इस कला में हुर्री और असुरी प्रभाव भी प्रतिबिंबित हैं फिर भी इसकी वास्तविक शैली विशुद्ध शक है। विशेष रूप से पेटियों के पट्ट और चौपारे सीथिओं की उस निजी कला के नमूने हैं जिसके अवशेष दक्षिणी रूस में मिले हैं। ईरानी इतिहास के इस शकयुग का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन साकिज से प्राप्त वस्तुओं से मिलता है जो उर्मियाह झील के दक्षिण में शकों की राजधानी थी। वहाँ जो विशुद्ध असुरी पदार्थ मिले हैं वे उन उपहारों के अवशेष हैं जो असुरी सम्राट ने परततुआ को भेंट किए थे। विशुद्ध शक वस्तुओं में एक सोने की मियान है जिस पर बारहसिंगे के सिरों की पंक्ति अंकित है और कुछ सोने के चौपारे हैं जिन पर पशुओं के सिर चित्रित हैं। विशेष महत्व की वस्तु एक चाँदी की तश्तरी है जिसमें खरगोश जैसे जंगली जानवरों की पंक्तियाँ दुबकती और भागती हुई दिखाई गई हैं। इस तश्तरी पर कुछ चित्रमय चिह्न भी हैं जो शकों का सब से पहिला अभिलेख है।

८९. रने घिर्शमान, ईरान पृ० ९९।

९०. जे० डब्ल्यू मेक्रिंडिल, मेगेस्थनीज़ एंड एरियन पृ० २०१; जॉर्ज रालिंसन, हिरोदोतस् भाग ३, पृ० १।

९१. जी० जी० केमेरोन, ए हिस्ट्री आव अर्ली ईरान (शिकागो १९३६) पृ० १८३ - १८४।

LIBRARY HARDWAR

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बरतनों की टोंटियों में एक, शिकारी चिड़िया की मुड़ी हुई चोंच की आकृति की है जिस पर गोल आँखें साफ चमकती हैं। दूसरी आराम से बैठे शेर के आकार की है और तीसरी में बत्तखों के मुँह बनाए गए हैं। ये सब विशुद्ध शक-कला-शैलियाँ हैं।[९२] पर्सिपोलिस की खुदाई में हज़ारों पत्थर के बरतनों और गुलदस्तों के टुकड़े मिले हैं जिनपर बत्तख और हंस चित्रित हैं।[९३] अतः स्पष्ट है कि शकों ने प्राचीन ईरान के घटनाचक्र में प्रमुख भाग लिया।

शकों के आगमन के पश्चात् कुरु और कंबोज भी ईरान में उन्नति करने लगे। इन जातियों के संक्रमणों और आक्रमणों से जो उथल-पुथल हुई उसका परिणाम हखामनि साम्राज्य की स्थापना था।

ईरानी वीरकाव्य में शकतत्त्व

ईरान में शकों के आगमन का प्रमाण बहुत से वीर-कथानकों और आख्यानों से मिलता है जो इस देश के साहित्य में रम गए। रुस्तम और ज़ाल से संबंधित कथाचक्र पर शक प्रभाव स्पष्ट है। यह बड़े महत्व की बात है कि अवेस्ता में इन प्रसिद्ध वीरों के नाम तक नहीं मिलते और इनसे संबंधित जो कथाएँ हैं वह ईरानी वीर-काव्य के अन्य आख्यानों से मेल नहीं खातीं वरन् उनसे अलग मालूम होती हैं। इनका वातावरण और स्थानीय चित्रण एकदम ईरानी कथानकों से भिन्न है।[९४] इनका संबंध पूर्वी ईरान के सीस्तान और ज़ाबुलिस्तान नामक प्रदेशों से है जो हेलमंद की घाटी में स्थित हैं। जब अरब विजेता सीसतान में प्रविष्ट हुए तो उन्हें वहाँ 'रख़्शे-रुस्तम' नामक स्थान मिला।[९५] फिरदौसी के शाहनामे में, जो प्राचीन ईरानी वीरकाव्य का उपबृंहित रूप है, रुस्तम को उसके प्रतिद्वंद्वी प्रायः 'सग्ज़ी' कहते हुए दिखाए गए हैं जिससे उसके शकसंबंधों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यह भी प्रायः सर्व-विदित ही है कि कट्टर ज़रथुस्त्री रुस्तम को अच्छा नहीं समझते क्योंकि उसने इस्फंदियार की हत्या का पाप किया था जो केवल ईरान का लोकप्रिय राजकुमार ही नहीं बल्कि ज़रथुस्त्र के धर्म का एक प्रबल समर्थक और प्रचारक भी था।[९६] इन तथ्यों से प्रतीत होता है कि रुस्तम शक जाति का विदेशी वीर था। यह बात कि रुस्तम के पूर्वजों के नाम ईरानी थे, इस विषय में कोई विशेष महत्व नहीं रखती क्योंकि शक स्वयं ईरानी नस्ल के थे और उनकी भाषा इसी परिवार से संबंधित थी। यह बात कि सीसतान में शक लोग ई० पू० छठी शताब्दि से पहिले

९२. रने घिर्शमान, **ईरान** पृ० १०५, १०७, १०९ – ११०।

९३. **वही**, पृ० १७६।

९४. न्योल्डेके, **दास ईरानिशे नात्सियोनालेपोस** (द्वितीय संस्करण) पृ० ९ – १०।

९५. **वही**, पृ० ११।

९६. इस संकेत के लिये मैं प्रोफेसर जे० ई० संजाना का आभारी हूँ। उनका मेरे नाम ५-१२-५६ का पत्र विशेष महत्व का है। श्री संजाना का यह सुझाव कि रुस्तम के नाम का अवेस्ता में 'रोधस्तख्म' के रूप में मिलना इस स्थापना में कोई अंतर उत्पन्न नहीं करता कि रुस्तम शक-जाति से संबंधित था क्योंकि शक वस्तुतः ईरानी ही थे। न्योल्डेके ने इस सुझाव को समीचीन न मानते हुए इसका पूर्णतः खंडन किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ही आबाद थे श्री एफ० डब्ल्यू० टामस के अनुसंधान से सिद्ध हो गई है।[९७] किंतु बहुत शीघ्र ही ये शक ईरानियों के समाज और संस्कृति में समा गए, यहाँ तक कि दारयवउश उनको अलग से न पहचान सका और घुमक्कड़ दृष्टि से वह उन्हीं लोगों को शक समझ पाया जो सिरदरिया के परे सुग्ध के आसपास रहते थे। इसी प्रकार भारत से भी शकआक्रमण के लगभग सभी चिह्न लुप्त हो गए। केवल कुछ विचित्र स्थाननाम जिन पर एक वैयाकरण का ध्यान पहुँचा और कुछ धुँधले कथानक जो पुराणों के अपार आख्यानसागर में विलीन हो गए, इन लोगों के प्रतीक रह गए।

महाभारत - नवीं शती ईसापूर्व के भारतीय शकईरानी आक्रमण का वृत्तांत

ई० पू० प्रथम सहस्राब्दि की प्रारंभिक शताब्दियों में ईरान और भारत में जो शकों का संक्रमण हुआ उसकी साहित्यिक अभिव्यंजना वीरता, नश्वरता और ओज से परिपूर्ण उन गीतों और गाथाओं में हुई जो शाहनामा और महाभारत में संगृहीत हैं। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है नवीं - आठवीं शती ई० पू० में ईरान में शक जनसंक्रमण हुआ जिसमें यौतिया, मकिया और असगर्तिया ने प्रमुख भाग लिया और उनके पीछे ही पीछे किर्री, सींथी, कुरु और कंबोज वहाँ घुस आए और उन्होंने हखामनि साम्राज्य की स्थापना में भाग लिया। एशियाई घुमक्कड़ों का एक ऐसा ही समुदाय जिसमें प्रायः यही जातीय तत्व संमिलित थे, लगभग उसी काल में अफगानिस्तान और पंजाब में आ धमका। इस आक्रमण में शकों की प्रधानता थी। महाभारत में वर्णित पांडवों का आगमन इस नवीं शती के शकआक्रमण को प्रतिबिंबित करता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि श्री हेमचंद्र रायचौधुरी के मतानुसार परीक्षित का राज्याभिषेक जो महाभारत के युद्ध के तुरंत बाद की घटना है, नवीं शती ई० पू० में संपन्न हुआ।[९८] यह समय नवीं शती के भारतीय शक आक्रमण से मेल खाता है।

गांधारों का उन्मूलन और कुरुक्षेत्र का प्रथम युद्ध

जब कभी भी किसी जाति ने पंजाब पर आक्रमण किया या किसी सेना ने इस प्रदेश पर अभियान किया तो उसने उत्तरपश्चिमी सीमाओं पर बसने वाले लोगों को उखाड़ कर दक्षिण-पूर्वी मैदानों की ओर धकेल दिया। शक - ईरानी जातियों के अभियान के फलस्वरूप भी पंजाब की उत्तर - पश्चिमी सीमा पर बसने वाले गंधार के निवासी पूर्व की ओर घुस पड़े और कुरुक्षेत्र के मैदान में कुरुओं से भिड़ गए। महाभारत से ज्ञात होता है कि पांडवों और कौरवों के प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र के युद्ध से कुछ ही पहिले इसी भूमि में सरस्वती के तट पर उत्तर - पश्चिम के गंधर्वों और कुरुओं का भीषण संग्राम हुआ जिसमें कुरुजनाधिप चित्रांगद वीरगति को

९७. एफ० डब्ल्यु० टामस, **शकस्थान व्हेयर ड्वेल्ट दि शकस नेम्ड बाई डेरियस एंड हिरोडोटस,** जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी लंदन (१६०६) पृ० १८१ – २००। इसी पत्रिका के उपर्युक्त अंक में आगे चलकर टामस महाशय ने इस विषय पर एक और टिप्पणी लिखी है, वही पृ० ४६० – ४६४।

९८. हेमचंद्र रॉयचौधुरी, **पोलीटिकल हिस्ट्री आव एंशिएंट इंडिया** (पंचम संस्करण) पृ० ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त हुआ।[९९] ये गंधर्व और गांधार वस्तुतः एक ही हैं क्योंकि ये दोनों शब्द द्रविड भाषाओं के अश्ववाचक 'कुडिरेइ' कुद्री (कुद्री), कुडिर (कुदिर), कुडुरे (कुदुरे) आदि शब्दों से निष्पन्न और संबंधित हैं जैसा कि श्री ज्यॉं सिल्युस्की ने सिद्ध किया है।[१००] ऐसा प्रतीत होता है कि शक - ईरानी जातियों के आक्रमण के फलस्वरूप गंधार के लोगों का स्रोत उमड़कर पूर्व की ओर बहने लगा और उसने एक अभियान का रूप धारण कर लिया जिसका परिणाम कुरुक्षेत्र का प्रथम युद्ध था जिसमें चित्रांगद की मृत्यु हुई। किंतु यह युद्ध शक - ईरानी जातियों के एक बड़े और शक्तिशाली आक्रमण की पूर्व पीठिका मात्र था जिससे कुरुओं की सत्ता निर्मूल हो गई।

पांचाल जातियाँ और कुरुओं के साथ उनके युद्ध

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि शक - ईरानी जातियों का आक्रमण, जिसके प्रतीक पांडव - बंधु हैं, उस समय हुआ जब कुरुओं और पांचालों का वैमनस्य भभक कर युद्ध का रूप धारण कर रहा था। ये पंचाल भी एक जातीय समुदाय के प्रतीक थे जिसमें बहुत सी जातियाँ संमिलित थीं और जिसपर केशी का आधिपत्य था। इस समूह ने ई० पू० सत्रहवीं शताब्दि

९९. **महाभारत** १।१०१।६ – ७

स तु चित्राङ्गदः शौर्यात् सर्वान् चिक्षेप पार्थिवान्।
मनुष्यं न हि मेने स कंचित सदृशमात्मनः॥
तं क्षिपन्तं सुराँश्चैव मनुष्यानसुराँस्तथा।
गन्धर्वराजो बलवाँस्तुल्यनामाऽभ्ययात्तदा॥
तेनास्य सुमहद्युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह।
तयोर्बलवतोस्तत्र गन्धर्वकुरुमुख्ययोः॥
नद्यास्तीरे सरस्वत्याः समास्तिस्रोऽभवद्रणः।
तस्मिन् विमर्दे तुमुले शस्त्रवर्षसमाकुले॥
मायाधिकोऽवधीद्वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम्।
स हत्वा तु नरश्रेष्ठं चित्राङ्गदमरिन्दमम्॥
अन्ताय कृत्वा गन्धर्वो दिवमाचक्रमे ततः।

१००. ज्यॉं सिल्युस्की, **लेफ्लुआँस ईरानियान ऑं ग्रेस ए दाँ लेन्द** र्‍युद ल्युनिवर्सिते द ब्रूसेल्स, भाग ३७ (१९३१ – ३२) पृ० २८५। यह लक्ष्य करने की बात है कि गन्धर्वों के मुख घोड़ों के थे। गंधर्व का घोड़े से निकट संबंध है। इस प्रकार उनके नाम का अश्ववाचक शब्द से संबंधित होना बड़ा महत्त्व रखता है। यह बात कि द्रविड लोग प्राचीन काल में उत्तर - पश्चिमी प्रदेशों से होकर भारत में प्रविष्ट हुए, इस तथ्य से सिद्ध होती है कि उनकी भाषा का अवशेष अब तक भी ब्राहुई लोगों में पाया जाता है। यह संभव है कि गंधार शब्द भी उनकी भाषा से संबंध रखता हो और इस प्रदेश में उनके आगमन का द्योतक हो। इस शब्द का अश्ववाची शब्दों से समीकरण उत्तरपश्चिमी प्रदेशों में घोड़ों के बाहुल्य और महत्त्व की ओर संकेत करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आसपास भारत में प्रवेश किया जैसा कि मैंने अन्यत्र सिद्ध करने की चेष्टा की है।[१०१] इस समूह का एक पक्ष इस शती में शाम की ओर चल पड़ा था और उसने हंमुराबी के राजवंश का अंत कर दिया था। मध्यएशिया के जनसमुदाय इसी प्रकार दो भागों में बँट - बँट कर भारत और मध्यपूर्व की ओर अग्रसर होते रहे।[१०२] पंचाल पाँच जातियों के समूह का प्रतीक है, १-क्रिवि, जो हिंदी-ईरानी सीमाप्रदेशों की एक सर्पोपासक आदिम जाति थी[१०३], २ - तुर्वश, जो मध्य एशिया के स्तेपों के ईरानी नस्ल के लोग थे और जिनका नाम ख्वारिज्म प्रदेश के 'तुर' नामक स्थान में अवशिष्ट है और जिनके वंशज कुरम (क्रमु) घाटी के 'तुरी लोग हैं[१०४], ३ - केशी, जिनकी पहचान स्पष्टतः केशियों या केशाइट से की जा सकती है जिन्होंने मध्यपूर्व में अमोरी राज्य को समाप्त करके कई सौ वर्ष राज किया, ४ - संजय, हिरोदोतस द्वारा वर्णित सगै, हखामनि अभिलेखों के अंक, इलामी भाषा के सिर – र – अन् – क, अरियन के सारग्गोइ और स्त्राबो के द्रग्गियाने, जिनका नाम उस प्रदेश से संबंधित था जिसे बाद में सीसतान कहा जाने लगा, और ५ - सोमक या सोमकृत्य के करने वाले लोग जिन्हें हखामनि लेखों में शक हौमवर्ग कहा गया है। सोमक और हौमवर्ग पर्यायवाची शब्द हैं। जातियों का यह समूह संभवतः बोलन मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुआ जैसा कि इनमें संजय के संमिलित होने से तथा इस प्रदेश में दश्ते-मर्गों नामक जगह के मिलने से प्रतीत होता है। इस समुदाय में जो जातियाँ शामिल थीं वे लगभग वही थीं जिन्होंने शाम पर प्रायः उसी काल में आक्रमण किया था।

भारत में आने के बाद ये लोग गंगा की उपत्यका में बस गए। इनके दो राज्य स्थापित हुए, एक की राजधानी कांपिल्य थी और दूसरे की अहिच्छत्रा। इसी बीच कुरु मध्यएशिया के प्रदेशों से चलकर पुरुभरतों वाले प्रदेश में आ बसे और उनमें घुल मिलकर एक हो गए। कुरुओं के आगमन और उनके कुरुक्षेत्र के द्वार पर अधिकार करने के फलस्वरूप उनमें और पंचालों में युद्ध की ज्वाला भभक उठी। वैदिक साहित्य[१०५] में कुरु-पंचालों के युद्ध, वैमनस्य और शत्रुता के अनेक संकेत मिलते हैं और महाभारत में भी बारंबार उनका उल्लेख हुआ है। शतपथब्राह्मण (१२।६।३) में कुरु और संजयों के वैरपूर्ण संबंध की चर्चा है और जैमिनीय – उपनिषद् – ब्राह्मण (१।३८।१; १२।४) में एक सुंदर दृश्य है जहाँ कुरु दाल्भ्यों को उपालंभ देते हुए दिखाए गए हैं जो पंचालों के सहचर और संबंधी थे। महाभारत में पांचाल्य (पंचाल-नरेश) और पुरु-भरत-राजा संवरण के युद्ध का वर्णन है जिसके फलस्वरूप संवरण को भाग कर सिंधुघाटी में आश्रय लेना पड़ा। पंचालों का कुरु भूमि पर आधिपत्य हो गया और वहाँ कष्ट, दरिद्रता और पतन का बोलबाला हुआ। संवरण ने अपने परिवार, परिचारकों और बंधुओं के साथ सिंधु की उपत्यका के किसी दुर्ग में शरण ली और वसिष्ठ के नेतृत्व में अपने

१०१. बुद्धप्रकाश, **कृष्ण, एन एथनोलोजिकल स्टडी**, पी० के० गोडे अभिनंदन ग्रंथ।

१०२. ए० क्रास्तेन्सन, **कुल्तूरगेशिश्ते डेज् आल्तेन ओरियन्तस्** पृ० २११–१२।

१०३. कास्तेन रोनो, **वैदिक क्रिवि**, एक्टा ओरियन्टेलिया, भाग १६, पृ० १६१–१८०।

१०४. जी० लि स्ट्रेंज, दि लैंड्स आव दि ईस्टर्न कैलिफेट पृ० ३३१-३२। सी० एल० पैनेल **अमंग दि वाइल्ड ट्राइब्स् आव दि अफगान फ्रंटियर** पृ० ५५–५६।

१०५. मेकडोनल और कीथ, **वैदिक इंडेक्स**, भाग २, पृ० ६३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्य को फिर से प्राप्त करने का यत्न आरंभ किया।[१०६] महाभारत में इसे एक बहुत प्राचीन घटना बताया गया है।

महाभारत के अनुसार कौरवों और पांडवों का कुरुक्षेत्र का महायुद्ध वास्तव में कुरुओं और संजयों का संग्राम था। युद्ध के दृश्यों का वर्णन और चित्रण करते समय युद्ध के पर्वों के संपादक का ध्यान बारंबार कुरुओं और संजयों के युद्ध की ओर आकृष्ट होता है जो पंचालों की एक प्रधान जाति था। इन संकेतों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुरु-संजय-संग्राम, लेखकों या चारणों के मस्तिष्क में प्रमुख था और इसपर कौरव-पांडव युद्ध का वृत्तांत मढ़ दिया गया। भीष्म पर्व में कुरु सदा संजयों के साथ लड़ते हुए दिखाए गए हैं।[१०७] जब भीष्म

१०६. **महाभारत** १।८६।३१ – ४१

आर्क्षे संवरणे राजन् प्रशासति वसुन्धराम्।
संक्षयः सुमहानासीत् प्रजानामिति नः श्रुतम्॥
व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तथा।
क्षुन्मृत्युभ्यामनावृष्ट्या व्याधिभिश्च समाहतम्॥
अभ्यघ्नन् भारतांश्चैव सपत्नानां बलानि च।
चालयन्वसुधां चैव बलेन चतुरङ्गिणा॥
अभ्ययात्तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम्।
अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेऽजयत्॥
ततः सदारः सामात्यः सपुत्रः ससुहृज्जनः।
राजा संवरणस्तस्मादपलायत महाभयात्॥
सिन्धोर्नदस्य महति निकुंजे न्यवसत्तदा।
नदीविषयपर्यन्ते पर्वतस्य समीपतः॥
तत्रावसन्बहून्कालान् भारताः दुर्गमाश्रिताः।
तेषां निवसतां तत्र सहस्रं परिवत्सरान्॥
अथाभ्यगच्छद्भरतान्वसिष्ठो भगवानृषिः।
तमागतं प्रयत्नेन प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च॥
पुरोहितो भवान्नोऽस्तु राज्याय प्रयतामहे।
ओमित्येव वसिष्ठोऽपि भरतान् प्रत्यपद्यत॥
अथाभ्यषिञ्चत् साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम्।
विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नः श्रुतम्॥
ततः स पृथिवीं प्राप्य पुनरीजे महाबलः।
आजमीढो महायज्ञैर्बहुभिर्भूरि दक्षिणैः॥

१०७. **महाभारत** ६।४५।१ – २

पूर्वाह्णे तस्य रौद्रस्य युद्धमह्नो विशाम्पते।
प्रावर्त्तत महाघोरं राज्ञां देहावकर्तनम्॥
कुरूणां संजयानां च जिगीषूणां परस्परम्।
सिंहानामिव संह्रादो दिवमुर्वीं च नादयन्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अर्जुन घोर युद्ध में संलग्न हुए और अन्य योद्धा स्तब्ध होकर त्राहि त्राहि करने लगे तो कुरु और संजय भी एक जगह रुक कर देखने लगे।[108] कर्णपर्व में भी जब विपक्षी सेनाएँ अर्जुन और कर्ण के प्रखर प्रहारों से संत्रस्त हो रहीं थी तो कुरु और संजय आपस में उलझ पड़े और इस संग्राम का फल मुख्यतः उन्हीं को भोगना पड़ा।[109] अन्य स्थानों पर भी जब योद्धाओं की विभिन्न टुकड़िया अपने प्रतिद्वन्द्वियों से लड़ती हैं तो कुरु नियमित रूप से संजयों के साथ जूझते हैं।[110] अतः स्पष्ट है कि महाभारत के महायुद्ध में कुरुपंचाल का परंपरागत वैमनस्य और सतत युद्ध उत्तर-पश्चिम की शक ईरानी जातियों के आक्रमण में हिलमिल गया। यह महत्वपूर्ण बात है कि पांडवों को पंचालों से वैवाहिक दृष्टि से संबंधित दिखाया गया है और यह भी सारगर्भित तथ्य है कि पांडवसेना का प्रथम सेनापति पंचाल राजकुमार धृष्टद्युम्न बनाया गया। यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में कुरुपंचालों के युद्धों के संकेत तो हैं किंतु कुरुपांडवों के वैमनस्य का कोई संकेत नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि कुरु-पंचाल-युद्ध कौरव-पांडव युद्ध से बहुत पहिले की घटनाएँ हैं। ऐसा लगता है कि जब कुरु-पचाल-वैमनस्य चरम सीमा पर था तो पंजाब से शकईरानी जातियों का आक्रमण हो गया। संभव है कि पंचालों के निमंत्रण पर या उनके सहयोग और सहायता से यह आक्रमण हुआ हो, जैसा कि भारतीय इतिहास में अक्सर होता रहा है। इस कार्य-कलाप एवं जातियों की गतिविधि के फलस्वरूप मध्यदेश से कुरुओं के प्रभुत्व का अंत हो गया।

वही ६।७२।१५

तत्राद्भुतमपश्याम संप्रहारं सुदारुणम्।
यदकुर्वन् रणे शूराः संजयाः कुरुभिः सह॥

वही ६।७३।४१

मुक्तकेश विकवचा विरथारिछन्नकार्मुकाः।
वाहुभिः समयुध्यन्त संजयाः कुरुभिः सह॥

१०८. वही ६।६०।२९

एवं विधं कार्मुक भीमनादमदीनवत्सत्पुरुषोत्तमाभ्याम्।
ददर्श लोकः कुरु संजयाश्च तद्वैरथं भीष्म धनञ्जयाभ्याम्॥

१०९. वही, ८।९३।१

तस्मिंस्तु कर्णार्जुनयोर्विमर्दे दग्धस्य रौद्रेहनिविद्रुतस्य।
वभूव रूपं कुरुसंजयानां वलस्य वाणोन्मथि तस्य कीदृक्॥

११०. वही ८।४७।२३

एवं मारिषसंग्रामो नरवाजि गजक्षयः।
कुरूणां संजयानां च देवासुर समोऽभवत्॥

वही ८।५७।१२

स सन्निपातो रथयूथपानां बभूव राजन् अतिभीमरूपः।
जनक्षयः कालयुगांतकल्पः प्रावर्त्ततार्मे कुरुसंजयानाम्॥

वही ८।५९।१

ततः पुनः समाजग्मुरभीताः कुरुसंजयाः।
युधिष्ठिरमुखाः पार्थाः सूतपुत्र मुखावयम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुरुक्षेत्र का द्वितीय महायुद्ध और कुरुओं का पतन

कुरुओं का पतन महाभारत के कथानक का विषय है। हाप्किंस ने छान्दोग्योपनिषत् के एक पद्य को उद्धृत करते हुए यह दिखाया है कि एक बार कुरुओं पर आपत्ति पड़ी थी और एक घोड़ी ने उनकी रक्षा की थी।[१११] शंखायन श्रौतसूत्र में एक ब्राह्मण के शाप के फलस्वरूप कुरुओं के कुरुक्षेत्र से निकलने का उल्लेख मिलता है।[११२] छांदोग्योपनिषत् में एक अन्य स्थान पर लिखा है कि एक बार टिड्डी दल के आने से कुरुदेश की फसलें नष्ट हो गईं और फलतः उशस्ति चाक्रायण का परिवार बड़े कष्ट में आ गया और उसे एक दूसरे आदमी की थाली में से जूठा भोजन उठाकर करना पड़ा।[११३] पुराणों से पता चलता है कि अधिसीम कृष्ण के पुत्र निचक्षु के राज्यकाल में गंगा की एक बाढ़ से हस्तिनापुर बह गया और कुरुओं को अपनी राजधानी कौशांबी में बदलनी पड़ी।[११४] बौद्धकाल में कुरु जनपद बहुत सिकुड़ गया था और इसका सार्वभौम महत्व समाप्त हो चुका था। सोमनस्स जातक (सं० ५०५) के अनुसार कुरुरट्ठ में उत्तर पंचालनगर स्थित था जिससे पता चलता है कि कुरुदेश पर पंचालों का आधिपत्य जम गया था।

आभीरों का उत्कर्ष

कुरुओं के पतन के बाद पंजाब और मध्यदेश में शांति और शासन समाप्त हो गए और बहुत सी आदिम और विदेशी जातियाँ सिर उठाने लगीं। इन जातियों में शूद्र और आभीर प्रमुख थे जो अपने निवासस्थान सिंधु के डेल्टा और बलुचिस्तान से निकल कर पंजाब में फैल गए और सरस्वती की उर्वर उपत्यका को आतंकित करने लगे, जैसा कि मैंने अपने आभीरों के अध्ययन[११५] में प्रतिपादित किया है। आभीरों के सान्निध्य के कारण विनशन में सरस्वती के लुप्त होने की मान्यता इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि शक ईरानी जातियों के तुरंत ही बाद आभीर कुरुदेश में उमड़ आए थे[१६] और कुरुओं के पतन में इनका भी

१११. **छांदोग्योपनिषत्** ४।१७।९ – १०, राधाकृष्णन् दि **प्रिंसिपल उपनिषद्स** पृ० ४८०

यतो यत आवर्तते तद् तद् गच्छति मानवः।
ब्रह्मैवैक ऋत्विक् कुरूनश्वभिरक्षति॥

ई० डब्ल्यु० हाप्किंस, **दि ग्रेट एपिक आव इंडिया** पृ० ३८५।

११२. १५।१६।१० – १३।

११३. **छांदोग्योपनिषत्** १।१०।१ राधाकृष्णन (उपर्युक्त) पृ० ४६ ४२१

मटचीहतेषु कुरुषु आटिक्या सहजायया उशस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास।

११४. एफ० ई० पार्जीटर, **डाइनेस्टीज आव दि कलि-एज** पृ० ५

गंगयापहृते तस्मिन नगरे नागसाह्वये।
त्यक्त्वा निचक्षुर्नगरं कौशांब्यां च निवत्स्यति॥

११५. बुद्धप्रकाश, **दि आभीरस, देयर एण्टीक्वीटी, हिस्ट्री एण्ड कल्चर.** जर्नल आव दि बिहार रिसर्च सोसायटी भाग ४० (१९५४) पृ० १ – १७।

११६. **महाभारत** ६।३७।१ ततो विनशनं राजन जगामाथ हलायुधः।
° शूद्राभीन् प्रतिद्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काफी गहरा हाथ था। मुषलपर्व से ज्ञात होता है कि ये आभीर इतने दुर्दांत और शक्तिशाली हो गए थे कि इन्होंने अजेय अर्जुन को भी परास्त कर दिया था जब वह द्वारका से यादव महिलाओं को वापस ला रहा था।[११७] उसी समय नाग जैसी कुछ और जातियाँ सिर उठाने लगी थीं क्योंकि जनमेजय को उन्हें कुचल कर तक्षशिला में दरबार लगाना पड़ा। उसका सर्पसत्र इस तथ्य का द्योतक है। या तो वह मध्य-देश में अशांति और आतंक फैलने से उत्तर-पश्चिम की ओर गया जिस प्रकार उसका पूर्वज संवरण गया था और या उत्तर-पश्चिम के किसी जातीय संकट को दूर करने के लिये उसे तक्षशिला में अपनी राजधानी बनानी पड़ी। तक्षशिला में ही वैशंपायन ने उसे महाभारत सुनाया।

शकों का काव्य महाभारत

उपर्युक्त अध्ययन में हमने उत्तर वैदिककाल में महाभारत के आधार पर पंजाब के जातीय आक्रमणों और संक्रमणों की गवेषणा की। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि महाभारत का केंद्र-बिंदु पांडव-कथानक प्राचीन भारतीय साहित्य की परंपराओं से एकदम भिन्न है। यहाँ तक कि पुराणों की प्राचीन और प्रामाणिक वंशावलियों में पाण्डवों के वृत्तांत का या उनसे संबंधित घटनाओं का संकेत तक भी नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि महाभारत में जो विशेष प्रकार का साहित्य संगृहीत है उसका भारतीय साहित्य की अन्य धाराओं से और उनमें संनिहित परंपराओं से कोई ताल-मेल नहीं है। इतिहास के महान् विद्वान् और विलक्षण तत्त्वदृष्टा आर्नोल्ड जोजेफ ट्वायनबी ने एक मूल्यवान संकेत किया है कि महाभारत की उत्पत्ति का श्रेय शकों को है। उन्होंने लिखा है कि "जब शकों को वीर-काव्य की आवश्यकता पड़ी तो उनका ध्यान अपनी भारतीय प्रजा की ओर गया और यह स्पष्ट ही है कि जब किसी पराधीन जन-समाज से ऐसी माँग की जाती है, तो उसके कवि अपने कोश से अनेक नई और पुरानी वस्तुएँ निकाल कर प्रस्तुत करने के लिये तैयार हो जाते हैं। यदि हम किसी ऐसे हिंदू कवि की कल्पना करें जिसका हृदय एक नवीन 'उच्च धर्म' में आसक्त हो और जिसे कोई भावुक बर्बर शक योद्धा-नरपति वीर-गाथाएँ तैयार करने की आज्ञा दे, तो क्या संस्कृत काव्य, जैसा कि यह हमारे सामने वर्तमान है, ठीक वैसे ही तुकबंदी नहीं मानी जाएगी, जो एक साथ दो विभिन्न रुचियों को संतुष्ट करने और दो पृथक् हितों को संपन्न करने के प्रयत्न की क्रिया-शक्ति से प्रादुर्भूत होती है?"[११८] यहाँ ट्वायनबी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि महाभारत में जो यूरेशिया के घुमक्कड़ लोगों के संक्रमण और संचरण के पुरातन संस्मरण और वृत्तांत संगृहीत हैं उनका ईसवी संवत् के प्रवर्तन के आसपास उत्तरी एवं पश्चिमी भारत में शक-राज्य की स्थापना के अनंतर और शकों की वीरकाव्य की आवश्यकता के कारण पुनरुत्थान और पुनः संस्करण

११७. **महाभारत,** १६।८।१७ – १८

आभीरैरनुसृत्याजौ हताः पंचनदालयैः।
धनुरादाय तत्राहं नाशकं तस्य पूरणे॥
यथा पुरा च मे वीर्यं भुजयोर्न तत्राभवत्।
अस्त्राणि में प्रणष्टानि विविधानि महामुने॥

११८. आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी, **दि फ्योल्केरवाण्डेरुङ्ग आव दि आर्यांज् एंड दि संस्कृत एपिक, ए स्टडी आवॅ हिस्ट्री भाग ५ पृ० ६०५ – ६०६।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ। किंतु ट्वायनबी ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया है कि ईसा से लगभग नौ सौ वर्ष पहिले शकों और उनसे संबंधित अन्य ईरानी जातियों का उत्तरी भारत में एक और आक्रमण हुआ जिसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति इस वीरकाव्य द्वारा हुई। नवीं शती ई० पू० के इस शक-ईरानी आक्रमण के निरूपण द्वारा हम महाभारत के वीर-काव्य की एक अधिक संयत और बोधगम्य व्याख्या करने में समर्थ हो सकते हैं। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं पूर्व-खीस्तीय प्रथम सहस्राब्दि के प्रारंभ में शक-ईरानी जातियों के आक्रमण से जो कुरु-साम्राज्य और आधिपत्य का अंत हुआ उसकी साहित्यिक अभिव्यंजना महाभारत में सुरक्षित वीर-काव्य द्वारा हुई। तत्पश्चात् यह कृति कई बार दोहराई गई और ब्राह्मण समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पहिले ईसवी संवत् के प्रवर्तन के आसपास इसका पुनः संपादन और संस्करण हुआ और फिर गुप्तकाल की प्रेरणाओं को मुखरित करने के लिए चौथी - पाँचवी शताब्दि में इसका पुनः संपादन और लेखन हुआ। धीरे धीरे पांडवों की जातीय व्यंजना लुप्त हो गई और उन्हें कौरवों के बंधुओं के रूप में चित्रित करने की चेष्टा की गई। किंतु फिर भी पांडव वीरों के वृत्तांतों में कुछ ऐसे विदेशी और विचित्र रूप रह गए जिनकी भारतीय समाज के वातावरण से संगति नहीं बैठती और यह स्पष्ट हो जाता है कि इस वीर-काव्य का मूल-स्रोत किसी ब्राह्मणेतर बाह्य प्रेरणा से प्रादुर्भूत हुआ है। तुलनात्मक ऐतिहासिक गवेषणा द्वारा हमने नवीं शताब्दि ई० पू० के जिस शक-ईरानी आक्रमण की स्थापना की है और जिसके प्रतीक पाँच पांडव बंधु हैं उसकी छाप महाभारत के गीतों, गाथाओं और कथानकों पर स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रकार महाभारत मूलतः नवीं शताब्दि ई० पू० का शक - प्रेरणा और प्रवृत्ति से ओत-प्रोत वीर-काव्य है। इसमें इन जातियों के आक्रमण की ध्वनि मुखरित हो उठी है। यही कारण है कि इसका विषय विशुद्ध भारतीय साहित्यिक सामग्री से मेल नहीं खाता।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar .

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्ट शब्दार्थवाद

रामभूर्ति त्रिपाठी

साहित्य के स्वरूप का विचार देश एवं काल की सीमा में रहते हुए भी उससे ऊपर उठकर किया जाता है, क्योंकि वह सार्वभौम एवं शाश्वत है। साहित्य की यह अखंड सत्ता अपने को विभिन्न नाम - रूपों में व्यक्त करती रहती है। सापेक्ष दृष्टि रखनेवाला मानव उसकी अखंड-रूपता का स्पर्श नहीं कर पाता, उसका हाथ जितनी दूर तक पहुँच पाता है, उतनी ही दूर तक के अंश को वह साहित्य का स्वरूप समझता है और समय समय पर उसे लिपिबद्ध या वाग्बद्ध करता रहता है। यही कारण है कि उसके स्वरूप की चर्चा नाना रूपों में मिलती है। इसकी अनिर्वचनीयता का दूसरा कारण यह भी है कि साहित्य 'रमणीय' है और रमणीय पदार्थ नित नूतन है, नित्य नवोन्मेषशाली हैं। अतः निर्धारित लक्षण की परिमित सीमा में उसे बाँधा भी कैसे जा सकता है? निष्कर्ष यह कि उसकी सभी चर्चित स्वरूपगत विशेषताएँ सत्य हैं, पर वे अंतिम नहीं हैं, क्योंकि वे अपूर्ण हैं। इस अवसर पर जायसी की उक्ति याद आती है—

सुन हसती कर नाउँ, अन्धरन टोआ धाइ कै।
जो देखा जेहि ठाउँ, मुहम्मद सो तैसन कहा॥

साहित्य एवं भावक सहृदयों के संबंध में भी यही बात है। निष्कर्ष यह कि इसकी चर्चा का कोई अंत नहीं।

साहित्य के स्वरूप की चर्चा विभिन्न देशों एवं कालों में विभिन्न ढंग से की गई है। पर जहाँ तक संस्कृत अलंकारशास्त्र का संबंध है, ग्रंथों के अवलोकन से पता चलता है कि 'काव्य-लक्षण' की दो धाराएं प्रवहमान थीं। एक धारा के अनुयायी विशिष्ट शब्दार्थ को 'काव्य' कहते हैं जब कि दूसरे 'विशिष्ट शब्द' मात्र को। वक्रोक्तिजीवितकार एक तीसरे मत [1] की ओर इंगित करते हैं, यद्यपि उसके पोषक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। तीसरा वर्ग केवल 'अर्थ' को ही काव्य कहता है। 'साहित्य' एवं 'काव्य' को पर्याय मान कर ही यहाँ यह स्वरूपविचार किया जा रहा है। व्यवहार में साहित्य शब्द 'काव्य' के अतिरिक्त 'वाङ्मय' मात्र के लिये भी प्रयुक्त होता है। संस्कृत अलंकारशास्त्र में 'काव्य' और 'साहित्य' – दोनों का पर्याय के रूप में प्रयोग हुआ है। इसी दृष्टि के अनुसार यहाँ प्रथम सिद्धांत अर्थात् विशिष्ट शब्दार्थ के विषय में संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

विशिष्ट शब्दार्थवादी धारा

इस धारा का अव्यक्त रूप कितना पुराना है, यह तो प्रमाणों के अभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परंतु उसका व्यक्त रूप आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम

१. कुन्तक या कुन्तल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्ध होता है। भरतसंमत साहित्य के स्वरूप की चर्चा करने से पूर्व हमें इस धारा की संज्ञा का रहस्य समझ लेना आवश्यक है। किस शब्द का क्या अर्थ है? इस समस्या के समाधान यद्यपि अनेक हो सकते हैं, पर उन सबमें प्रयोग या लोकव्यवहार मूर्द्धन्य है। लौकिक प्रयोगों को देखकर ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध करना चाहिए। व्यवहार में हम यह सुना करते हैं—काव्य सुना, काव्य पढ़ा आदि। यह स्पष्ट है कि सुनना या पढ़ना 'शब्द' का ही हो सकता है, और जो सुना अथवा पढ़ा जाय, वह अर्थात् 'अर्थ' नहीं 'शब्द' काव्य है। पर काव्य केवल सुना और पढ़ा, नहीं जाता, वह 'समझा' भी जाता है। तब समझने का विषय 'शब्द' नहीं 'अर्थ' है। सारांश यह कि काव्य एक ओर 'सुना' और 'पढ़ा' जाता है और दूसरी ओर 'समझा' भी जाता है। निष्कर्ष यह कि 'शब्द' की भाँति 'अर्थ' के लिये भी 'काव्य' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। इस प्रकार 'काव्य' शब्द का अर्थ 'शब्द एवं अर्थ' दोनों हुआ। 'शब्दार्थ' के मिलित रूप, सामान्य 'वाङ्मय' मात्र से काव्य का व्यतिरेक दिखाने के लिये ही इस सिद्धांत वाले उसे 'विशिष्ट' युक्त से कर देते हैं और 'विशिष्ट शब्दार्थ' को काव्य की संज्ञा देते हैं। शब्द एवं अर्थ—दोनों का योग काव्यानुभूति की सर्जना में देखा जाता है, इसलिये भी दोनों को 'काव्य' कहना उचित जान पड़ता है। प्रथम धारा का यही अभिप्राय है।

प्रथम के दो रूप—आगे चलकर यह धारा भी दो शाखाओं में फूटती हुई दिखाई पड़ती है—एक का उदय भरत से होता है और दूसरी का भामह से। भरत की धारा 'उत्कृष्ट या उपादेय काव्य' का स्वरूप बताती है और भामह द्वारा प्रवर्तित धारा काव्यमात्र को, चाहे वह उत्कृष्ट हो या अपकृष्ट, उपादेय हो या हेय—ध्यान में रखकर उसका धर्मनिर्देश करती है। सारांश यह कि पहली में उत्कृष्ट काव्य का विचार होता है और दूसरी में निर्विशेष काव्य का।

कारण यह है कि किसी भी वस्तु का परिचय या लक्षण उस वस्तु की असाधारण एवं भेदक विशेषताओं द्वारा ही दिया जाता है। ये विशेषताएँ दो प्रकार की होती हैं—१ – स्वरूपाधायक एवं २ – उत्कर्षाधायक। पहली में जातीय विशेषताएं रहती हैं और दूसरी में एकवर्गीय या 'विशेष'। वाङ्मय के भीतर दो जातियाँ हैं—काव्य एवं शास्त्र २। शास्त्र से काव्य के भेदक जो धर्म होंगे, वे जातीय या सामान्य विशेषताएँ कही जायँगी और जब काव्यमात्र को उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट—दो भागों में बाँट दिया जाय और फिर दोनों के भेदक धर्मों का निर्देश किया जाय, तो वे भेदक धर्म—जातीय न होकर एकवर्गीय या 'विशेष' होंगे। उदाहरणार्थ यदि हम किसी मनुष्य को लें, तो 'मनुष्यत्व' एक जातीय धर्म होगा जो उसे पशु जाति से भिन्न कर देगा और साथ-साथ मनुष्य का सामान्य स्वरूप भी निर्दिष्ट करेगा। इसके विपरीत शौर्य, विवेक, आर्जव आदि वर्गीय गुण होंगे, जिसका मनुष्यमात्र से संबंध न होगा वरन् जिससे कुछ इने-गिने विशेष प्रकार के लोगों का बोध होगा। :यही स्थिति इस प्रथम धारान्तर्गत दोनों शाखाओं की है। इन दोनों में से प्रथम को 'विशेष या वर्गवादी' एवं द्वितीय को 'सामान्य या जातिवादी' के नाम से मैं पुकारना अच्छा समझता हूँ।

२. इह हि वाङ्मयमुभयथा काव्यं शास्त्रञ्च।

—राजशेखर कृत काव्यमीमांसा द्वितीयाध्यायका आरंभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषवादी शाखा—

१ – इस शाखा के आद्य प्रवर्तक आचार्य भरत हैं। नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में आचार्य काव्य के लक्षण, दोष, गुण एवं अलंकारों की चर्चा करते हुए अंत में लिखते हैं—

मृदुललितपदाढ्यं, गूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ॥१६।११८

प्रस्तुत लक्षण 'काव्य' का नहीं शुभकाव्य (वर्गीय) का लक्षण है। इस श्लोक में काव्य के स्वरूपाधायक एवं उत्कर्षाधायक विशेषणों की चर्चा हुई है। काव्य में ऐसे पदों का ही प्रयोग अधिक होना चाहिए, जो मृदु एवं ललित हों। काव्य के शब्द एवं अर्थ गूढ़ न हों, प्रत्युत प्रसादगुणयुक्त हों, जिससे कि सबके लिये वह सुखबोध्य हो सके। काव्य का युक्तियुक्त होना तो आवश्यक है ही, नृत्य में उपयोग - योग्यता भी उसमें अपेक्षित है। वहाँ रस को सहस्रधार होकर बहना चाहिए। कथावस्तु संधियों से पूर्णतः समन्वित हो। इन विशेषताओं से युक्त काव्य नाटकप्रेक्षकों को अत्यंत रुचिकर होता है।

प्रथम चरण में शब्दार्थ की चर्चा है, जो काव्य का शरीर है। शरीर - कथन के साथ - साथ शब्दार्थ की उत्कर्षक विशेषताओं की भी चर्चा है अर्थात् गुण एवं अलंकारों की ओर भी इंगित है। लक्षण बनाते समय चाहिए ग्रंथकार की दृष्टि में नाटक - प्रेक्षक हैं, अतः उनकी सरलता पर बहुत बल दिया गया है। नृत्य को तो मैं उपलक्षण समझता हूँ। वास्तव में लेखक चाहता है कि काव्य में अभिनयोपयोगी वस्तुओं की चर्चा हो। तृतीय चरण में रस की चर्चा की गई है। बहुत रसों से अभिप्राय यही हो सकता है कि एक रस प्रधान हो और उसके परिपोष के लिये अप्रधान रूप में कई प्रकार के रसों का ग्रहण हो। संधियों के द्वारा कथावस्तु की सुश्लिष्टता पर भी दृष्टि रखी गई है।

इस लक्षण में शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार, रस, अभिनयोपयोगी तत्व तथा कथातत्वों की चर्चा की गई है। स्पष्ट है कि यह लक्षण काव्य - सामान्य का परिचायक नहीं है। लक्षण की दृष्टि श्रव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य की ओर अधिक झुकी हुई है। और विशेषणों की योजना तो किसी प्रकार श्रव्य-दृश्य—दोनों भाँति के काव्यों के साथ की जा सकती है, पर 'नृत्ययोज्यम्' का उपयोग तो प्रेक्षककी दृष्टि से दृश्यकाव्य के लिये ही है। यह उचित भी है। आचार्य भरत के समक्ष रूपक की ही चर्चा प्रस्तुत है, अतः उसी ओर लक्षण अधिक उन्मुख हो, तो यह कोई आश्चर्य नहीं।

२ – यह विशिष्ट शब्दार्थवादी वर्गीय धारा बहुत दिनों तक तिरोहित दिखाई पड़ती है। बाद में चलकर **आचार्य वामन** ने (आठवीं शती का उत्तरार्द्ध) हलके ढंग से इस धारा को स्वल्पतः पुनरुज्जीवित किया। 'काव्यालंकार' का प्रथमसूत्र है – "काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्" और इसीकी वृत्ति में 'काव्य' के स्वरूप का विचार किया है। लिखा है – "काव्यशब्दोऽयं गुणलङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।" अर्थात् 'काव्य' वह 'शब्दार्थ' है, गुण एवं अलंकार से जिसका संस्कार किया गया हो। केवल 'शब्द' या केवल 'अर्थ' के लिये जहाँ काव्य शब्द का प्रयोग मिले, उसे औपचारिक समझना चाहिए। 'गुण' एवं 'अलंकार' ऐसे विशेषण हैं, जो उत्कृष्ट काव्य से संबंध रखनेवाले हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३ – वामन के पश्चात् इस धारा में ख्यातनामा आचार्य मम्मट (१०५० ई०) का स्थान है। मम्मट ने काव्य का स्वरूप अधोलिखित रूप में निर्दिष्ट किया है –

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"

अर्थात् शब्द एवं अर्थ का वह समुदित स्वरूप काव्य है, जहाँ दोषों का अभाव हो, गुणों का सद्भाव (सत्ता) हो तथा सर्वत्र अलंकार की स्थिति हो। सरस स्थल में यदि कहीं अलंकार अस्फुट भी रहें, तो कोई क्षति नहीं। इस प्रकार यहाँ दोषाभाव, गुण एवं अलंकार की सत्ता आवश्यक मानी गई है। स्पष्ट है कि ऐसा काव्य उत्कृष्ट काव्य ही हो सकता है।

परवर्ती यशोलिप्सु आचार्यों ने 'प्रकाश'-कार का दृढ़ता के साथ जो खंडन किया है, वह एक उल्लेखनीय विषय है। साथ ही यह भी समझने की बात है कि ये खंडनकर्ता 'प्रकाश'-कार के लक्षण को सामान्य या 'जातीय' समझकर खंडन करते रहे हैं।

इस खंडन को संक्षिप्त रूप में समझने के लिये उक्त सूत्र के दो खंड कर लेने चाहिएँ – १ - 'विशेषण' खंड एवं २ - 'विशेष्य' खंड। विशेष्य खंड में **'शब्दार्थौ'** एवं विशेषण खंड में तीन विशेषणों का सद्भाव है—१ - **अदोषौ**, २ - **सगुणौ**, ३ - **अनलंकृती**। इन चारों अंशों की स्वकीय व्याख्या में परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने खंडन-मंडन का विस्तार किया है। इन चारों में सबसे पहले विशेष्य खंड **'शब्दार्थौ'** को लेता हूँ।

आचार्यों ने, मुख्यतः 'विशिष्ट शब्दवादी' धारा के समर्थकों ने, इसका खंडन तीन दृष्टियों से किया है—क - शास्त्रीय दृष्टि, ख - लोकव्यवहार की दृष्टि एवं ग - व्युत्पत्ति की दृष्टि। शास्त्रीय दृष्टि से हमारा तात्पर्य है द्वितीय-तृतीय दृष्टियों से भिन्न दृष्टि। इसके अतिरिक्त और कोई विशेष अभिप्राय नहीं समझना चाहिए। इस दृष्टि के विचार से केवल एक ही बात कहनी है और वह यह है कि जिस प्रकार वेद, पुराण[3] आदि शब्दरूप माने गए हैं, उसी प्रकार 'काव्य' भी 'शब्द' रूप ही माना जाय। यह विचार पंडितराज जगन्नाथ का है। इस युक्ति का खंडन प्रकाशकार के पोषक वैयाकरणशिरोमणि आचार्य नागेश भट्ट ने किया है।[4] उन्होंने बताया है कि 'वेद' वस्तुतः मिलित शब्दार्थ ही है, उसे केवल 'शब्द' रूप मानना पाणिनि एवं पतञ्जलि जैसे विचारकों की ओर से गजनिम्मीलिका है। पाणिनि का सूत्र है – 'तदधीते तद्वेद', जिससे स्पष्ट है कि वे 'वेद' को **अध्ययन** एवं **मनन** दोनों की वस्तु मानते हैं। अध्ययन 'शब्द' का तथा मनन 'अर्थ' का संभव है। अतः वेद को प्रामाणिक आचार्यों ने भी 'शब्दार्थ' रूप ही माना है। महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य से भी यही बात पुष्ट होती है।

दूसरी दृष्टि है – लोक व्यवहार की। इस विषय में मैंने इस धारा का परिचय देते हुए पहले ही कहा है कि लौकिक प्रयोगों से 'काव्य' शब्द एवं 'अर्थ' उभयरूप सिद्ध हैं। तीसरी दृष्टि है—व्युत्पत्ति की। काव्य कविकर्म है—कवेः कर्म काव्यम्। 'शब्द' एवं 'अर्थ' में से कवि का कर्म, 'शब्द' ही उसका कार्य है, 'अर्थ' का निर्माण वह नहीं करता। कवि की साक्षात्

३. एषैव च वेद पुराणादिलक्षणेष्वपि गतिः – पृष्ठ ६, रसगङ्गाधर।
४. "अतएव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीते तद्वेद' इत्यादिसूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः सङ्गच्छते" – रसगंगाधर टीका 'गुरुमर्मप्रकाश'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मता 'शब्द-योजना' में ही दिखाई पड़ती है। अतः कवि - कर्म का विषय होने से 'शब्द' को ही 'काव्य' कहा जा सकता है, न कि 'शब्द' एवं 'अर्थ'—दोनों को।

इसका समाधान देते हुए शब्दार्थवादी धारा के आचार्यों का कहना है कि जिस प्रकार कवि शब्दों की योजनारूप रचना करता है, उसी प्रकार अर्थों की भी वह योजनारूप रचना करता है। यद्यपि अर्थ स्वयंसिद्ध होते हैं, तथापि काव्य-जगत में कुछ ऐसे नवीन अर्थ देखे जाते हैं जिनका अवस्थान लोक में नहीं है। तो क्या इन अर्थों में कवि की कर्मता नहीं है? ऐसे ही अर्थों को वैयाकरणों ने 'बौद्ध' अर्थ कहा है। ये अर्थ बाह्य जगत में नहीं हैं, कवि की प्रतिभा में ही रहते हैं। ऐसे ही अर्थों को लेकर 'ध्वनिकाव्य' के प्रभेदों में 'कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध' काव्य की चर्चा हुई है।[५] वहाँ व्यञ्जक अर्थों के दो भेद किए गए हैं – स्वतःसम्भवी एवं कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इन्हें समझाते हुए कहा है –

प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥ २४ ॥

सम्पूर्ण काव्यार्थ के इन दो स्वरूपों में से प्रथम भाग निश्चित ही कवि की अपनी कृति है। सिद्धि की दृष्टि से देखने पर तो किसी-किसी के मत से वर्ण, पद, वाक्य तक नित्य हैं, फिर वे ही क्यों कवि के कर्म होने लगे? सारांश यह कि इस सिद्ध, असिद्ध एवं नित्य तथा अनित्य के झगड़े से ऊपर उठकर देखा जाय तो शब्द एवं अर्थ—दोनों ही कविकर्म अर्थात् काव्य कहे जा सकते हैं।

विशेष्य खंड पर विचार करने के अनंतर अब विशेषणों पर भी विचार करना चाहिए। सबसे पहले 'अदोषौ' विचारणीय है। इस अंश का विरोध आचार्यों ने किया है। विशेषतः, दर्पणकार विश्वनाथ एवं रसगंगाधरकार पंडितराज ने अनेक विरोधी तर्क उपस्थित किए हैं। इन विरोधी तर्कों का आधार मुख्यतः 'अदोषौ' का 'अ' है। 'अ' 'नञ्' (न) का समासगत अवशिष्ट रूप है और 'नञ्' के कई अर्थ ग्रंथों में मिलते हैं—

सादृश्यमस्फुटत्वञ्च तदल्पत्वं विरोधिता।
अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥

इन छह अर्थों में से प्रायः 'अल्पता' एवं 'अभाव' को लेकर कई विकल्प खड़े किए गए हैं। कुछ नमूने देखिए। यदि 'अदोषौ' के 'अ' का अर्थ 'अल्प' किया जाय, तो 'अदोषौ' का अर्थ होगा—"अल्पदोषौ"। अर्थात् इस स्थिति में उस शब्दार्थ को काव्य कहेंगे, जिसमें 'अल्पदोष' हों। पर ऐसा मानने से सर्वथा निर्दुष्ट शब्दार्थ को काव्य कहने में आपत्ति होगी, क्योंकि उसमें 'अल्प-दोष' का होना आवश्यक है। अतः इस आपत्ति से छुटकारा पाने के लिये 'अल्पदोषौ' का अभिप्राय यह समझना चाहिए कि काव्य के शब्दार्थ यदि सर्वथा निर्दुष्ट हों तो कहना ही क्या? उनमें यदि अल्प-दोष भी हो तो कोई हानि नहीं है।

परंतु प्रकाशकार काव्योपयोगी शब्दार्थ से 'दोष' का सर्वथा असंस्पर्श चाहते हैं। अर्थात् वे 'अदोषौ' के 'अ' का अर्थ 'अभाव' करना चाहते हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने इस

५. ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मत पर एक आपत्ति यह उठाई है कि सर्वथा दोषरहित शब्द एवं अर्थ को काव्य मानने का परिणाम यह होगा कि बहुत सी 'काव्य' – नामधारिणी रचनाएँ दोषग्रस्त होने के कारण काव्य की परिधि से बहिर्भूत हो जायँगी और उन्हें अकाव्य करार दिया जायगा। पर यह उचित नहीं जान पड़ता। यदि कोई मनुष्य किसी प्रकार के दोष से युक्त हो तो क्या उसे मनुष्य की परिधि से बाहर कर दिया जा सकता है? क्या उसे मनुष्य से भिन्न समझा जायगा? कदाचित् नहीं। फिर यही शर्त काव्य के साथ भी होनी चाहिए। सारांश यह कि 'काव्य' होने के लिये 'प्रकाश' की यह शर्त कि काव्योपयोगी शब्दार्थ सर्वथा दोषशून्य हों, ठीक नहीं है। पर ये सारे तर्क तब बालू की भीत की भाँति ढह जाते हैं, जब हम यह देखते हैं कि 'प्रकाश'-कार ने सामान्य काव्य के लक्षण नहीं बताए हैं, बल्कि उपादेय एवं श्लाघ्य काव्य के लक्षणों का निर्देश किया है।

'अदोषौ' के पश्चात् 'सगुणौ' की बारी आती है। इस विशेषण से प्रकाशकार का अभिप्राय यह है कि शब्द एवं अर्थ को काव्य की पदवी प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि वे गुणवान् हों। गुण से तात्पर्य है—प्रसाद, माधुर्य एवं ओज का। 'प्रसाद' एक ऐसा गुण है, जो सर्वसाधारण है, पर 'माधुर्य' एवं 'ओज' में से एक की स्थिति अवश्य होनी ही चाहिए। प्रकाशकार के इस वक्तव्य पर लोगों की आपत्ति है। आपत्ति दो प्रकार की है—१ - गुण का आवश्यक सद्भाव नहीं रखना चाहिए। २ - यह कि गुण 'रस' के धर्म हैं, शब्द एवं अर्थ में उनकी उपस्थिति कहना ठीक नहीं। प्रथम आपत्ति का इस एकवर्गीय काव्य-धारा में कोई स्थान ही नहीं है। दूसरी के संबंध में यह कहना है कि यद्यपि गुण मुख्यतः 'रस' में है, तथापि औपचारिक रूप से उन्हें शब्द में भी माना जा सकता है। प्रकाशकार ने स्पष्ट कहा है—"गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता"। इस प्रकार की उक्ति से प्रकाशकार ध्वनित करना यह चाहते हैं कि काव्य में इसका संपर्क अपेक्षित है। बात यह है कि गुण एवं रस—दोनों की स्थिति परस्पर सापेक्ष होती है, इसी कारण सहृदयशिरोमणि मम्मट ने 'गुण' की सत्ता द्वारा 'रस' की सत्ता का आवश्यक सद्भाव सूचित किया है। इस पर भी कुछ लोग यह कहना चाहते हैं कि यदि 'शब्दार्थ' को गुणवान् बनाकर इसकी सत्ता का सद्भाव ही सूचित करना लक्ष्य था, तो सीधे 'सरस' शब्दार्थ ही कह देते, इस द्रविड़ प्राणायाम की क्या आवश्यकता थी? समाधान यह है कि 'सरस' कहने से रसमयता एवं गुणमयता तो आ जाती, पर पूर्ण योजना अथवा पद—संघटना का वह औचित्य, जो गुण के अनुरोध से चलकर काव्य को सुषमा समर्पित करता है, न आ पाता। अतः वाग्देवतावतार की वह उक्ति युक्तियुक्त ही है।

तीसरा विशेषण है—'अनलङ्कृती क्वापि'—कहीं कहीं यदि अलंकार की सत्ता अस्फुट हो तो भी 'शब्दार्थ के काव्यत्व में कोई क्षति नहीं आती। अर्थात् अलंकार का सर्वत्र रहना आवश्यक है, पर यदि कहीं (सरस स्थल में) वह अस्फुट भी हो तो कोई हानि नहीं। एकवर्गीय काव्य-धारा में इस तत्व का अवस्थान होना ही चाहिए।

इस धारा के अवशिष्ट आचार्यों में दोनों **वाग्भट, हेमचंद्र** एवं **विद्यानाथ, क्षेमेंद्र,**[६] **धर्म-**

६. काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यं सदलंकृति—कविकंठाभरण आरंभ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरि[७], **अच्युतराय**[८] आदि के नाम और लिए जा सकते हैं। प्रसिद्ध श्वेतांबर जैन श्री हेमचंद्र का समय बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। काव्यानुशासन के प्रथम अध्याय में आपने काव्य का अधोलिखित लक्षण दिया है—

'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्'

इसमें प्रकाशकार के लक्षण से इतना ही विशेष है कि उन्होंने 'अनलङ्कृती क्वापि' कहा है और इन्होंने "सालङ्कारौ"। अर्थात् जहाँ प्रकाशकार के अनुसार काव्य के लिये ही कहीं अलंकारों की अस्फुटता भी क्षम्य है, वहाँ हेमचंद्र की दृष्टि में वह भी क्षम्य नहीं है।

'वाग्भट' नाम के दो आलंकारिक हो चुके हैं, जिनमें प्रथम बारहवीं शती उत्तरार्द्ध के तथा द्वितीय १४वीं शती के आचार्य हैं। प्रथम वाग्भट्ट की कृति है **वाग्भटालंकार**। इसमें आपने अधोलिखित लक्षण लिखा है—

साधु शब्दार्थसंदर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥

इस काव्यलक्षण की यह विशेषता है कि इसमें 'अदोषौ' का कथन नहीं है और रीति तथा रसका स्फुट अवस्थान कीर्तिकर काव्य के लिये आवश्यक माना गया है। यद्यपि प्रकाशकार ने भी अपने काव्य को 'यशसे' कहा है, फिर भी उनकी दृष्टि इनसे व्यापक है। उन्होंने जहाँ तक हो सका है कीर्तिकर काव्यों के संग्रह का प्रयास किया है। यही कारण है कि उन्होंने रस की स्फुटता का उल्लेख नहीं किया। अधम काव्य में रसतत्व को अत्यंत तिरोहित माना है। कहा भी है —'अव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' अर्थात् अधम काव्य व्यङ्ग्य-रहित होता है। रस सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है। इस प्रकार 'अव्यङ्ग्य' से रस की अस्फुटता ही बताई गई है।

वाग्भट द्वितीय ने निम्नलिखित ढंग से काव्य लक्षण-दिया है—

'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्'—इस लक्षण में पुनः प्रकाशकार उतर आए हैं। अंतर इतना ही है कि जहाँ प्रकाशकार ने 'अलंकृती पुनः क्वापि' शब्द का प्रयोग किया, वहीं इन्होंने 'प्रायः सालङ्कारौ' कहा, अभिप्राय दोनों का एक ही है।

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के प्रणेता श्री विद्यानाथ ने कहा है—

'गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्'। यह लक्षण दोनों वाग्भट के मध्य में है। पहले वाग्भट का 'स्फुट रस' भी नहीं और दूसरे वाग्भट्ट का 'प्रायः सालङ्कारौ' भी नहीं। न्यायवागीश[९] भी इसी दल में है।

७. सगुणालङ्कृती काव्यं पदार्थौ दोषवर्जितौ।—साहित्यरत्नाकर, आरंभ

८. तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्वे सति स्फुटम्। गद्यादि बंधरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम्।
—साहित्यसार

९. गुणालंकारसंयुक्तौ शब्दार्थौ। नित्यदोषविनिर्मुक्तौ काव्यमित्यभिधीयते।—अलंकारचंद्रिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाराज भोज का समय ग्यारहवीं शती का मध्य है। आपके काव्यलक्षण पर भी इसी धारा का प्रभाव लक्षित होता है, यद्यपि 'शब्दार्थों' का स्पष्टतः कथन नहीं है—

"निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

सरस्वतीकंठाभरण की इस उक्ति में विशेष्य-खंड सर्वथा लक्षित नहीं हो रहा है। **नरेन्द्रप्रभसूरि** ने भी अपने अलङ्कार महोदधि में लिखा है—

"काव्यं शब्दार्थवैचित्र्ययोगः सहृदयप्रियः।
यस्मिन्नदोषत्वगुणालङ्कृतिध्वनयः स्थिताः॥

संक्षेप में इस धारा की गति-सरणि के प्रदर्शन की रूपरेखा ऊपर दी गई। संप्रति, इस धारा के एकवर्गीय दल के अनंतर 'जातीय' या सामान्यवादी मत के ऐतिहासिक स्वरूप की चर्चा आरंभ की जा रही है।

उपलब्ध आचार्यों में भामह ही सर्व प्रथम इस जातीय शब्दार्थवादी धारा के गण्य-मान्य आचार्य हैं।

सामान्यवादी (जातिवादी) धारा

उपलब्ध आचार्यों में इस धारा के आद्य प्रवर्तक आचार्य भामह कहे जा सकते हैं। ये छठीं शती पूर्वार्द्ध के आचार्य हैं। इन्होंने अपने काव्यालंकार में काव्य का लक्षण बताते हुए लिखा है – "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" – अर्थात् शब्द एवं अर्थ मिलकर 'काव्य' कहे जाते हैं। इस लक्षण की व्याख्या की जाय, तो चाहे जितनी विशेषताएँ निकलें, पर स्थूलरूप से देखा जाय तो यह लक्षण काव्य का स्पष्ट परिचय नहीं देता।

यदि कुछ परवर्ती आचार्यों द्वारा व्याख्यात उक्तियों की सहायता ली जाय, तो भामह का कथन स्पष्ट होगा। एक जगह भट्टनायक[१०] ने वाङ्मय की इतर शाखाओं से साहित्य को पृथक् करते हुए लिखा है कि वाङ्मय के उस अंश को, जहाँ शब्द की प्रधानता होती है, **शास्त्र** कहते हैं। दोनों (शब्द एवं अर्थ) में जहाँ अर्थ-भाग की प्रधानता हो, उसे पुराण (आख्यान) एवं इतिहास कहते हैं तथा जहाँ दोनों अंशों की प्रधानता हो, उसे काव्य कहते हैं। व्यक्ति-विवेक व्याख्यानकार[११] (रुय्यक ?) ने भी इस अभिप्राय से कहा है कि शास्त्र एवं इतिहास-पुराण से काव्य की यही विलक्षणता है कि काव्य में शब्द एवं अर्थ दोनों का वैशिष्ट्य होता है।

कुछ आचार्यों ने वाङ्मय की इतर शाखाओं से काव्य की विशेषता इस बात में बताई है कि काव्य में 'अभिधा' का वैशिष्ट्य होता है। असल में अभिधा के द्वारा काव्य का महत्त्व

१०. शब्दप्रधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः। अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
—भट्टनायक

११. शास्त्रेतिहासवैलक्षण्यं तु काव्यस्य शब्दार्थवैशिष्ट्यादेव नाभिधावैशिष्ट्यादिति भट्टोद्भटादीनां सिद्धान्तः। – व्यक्तिविवेकव्याख्यान, पृष्ठ १८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बताने वालों की धारणा यह है कि काव्य में अलंकार ही सब कुछ है और वे अभिधा के धर्म हैं।[१२] विचार किया जाय तो अलंकार अभिधा के धर्म नहीं; शब्द एवं अर्थ के धर्म हैं। अभिधा के दो अर्थ हो सकते हैं—१ - अर्थ-ज्ञानोपयोगी (अभिधा) व्यापार २ - अथवा शब्दोच्चारण का व्यापार। अलंकार को इस शब्दशक्ति का अथवा उच्चारण-व्यापार का धर्म मानने में कोई युक्ति नहीं है। चारुता या वैचित्र्य ही स्फुरित होने पर अलंकार कहा जाता है। इस प्रकार की चारुता अभिधा शक्ति या उच्चारण में नहीं झलकती, बल्कि 'उच्चार्यमाण' एवं अभिधा शक्ति से 'प्रतिपाद्य' में अर्थात् शब्द एवं अर्थ में झलकती है। अतः अलंकार को शब्द एवं अर्थ का धर्म मानकर इसी के द्वारा काव्य का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करना समीचीन है।[१३]

टीकाकार के अतिरिक्त स्वयं भट्टमहिम ने भी शब्दार्थ[१४] की प्रधानता को ही काव्य की विशेषता माना है। उन्होंने कहा है कि शास्त्र तीन प्रकार के होते हैं १ - शब्द-प्रधान, २ - अर्थ-प्रधान तथा ३ - उभय-प्रधान। इनमें से शब्द-प्रधान हैं वेद आदि। कारण यह है कि इसके पारायण से ही अभ्युदय कहा गया है, तनिक भी पाठ-विपर्यास हुआ, यहाँ तक कि स्वर भी अनियंत्रित उच्चरित हुए, तो अध्येता का कर्म कलुषित हो जाता है। अर्थ-प्रधान शास्त्र को 'इतिहास' एवं 'पुराण' कहते हैं, क्योंकि ये अर्थवाद मात्र होते हैं, विभिन्न प्रकार की प्ररोचनाओं द्वारा कर्तव्य एवं अकर्तव्य की स्तुति एवं निंदा करते रहते हैं। उभयप्रधान शास्त्र है काव्य। कारण यह बताते हैं कि काव्य का प्राण है 'रस' और 'रस' का प्राण है 'औचित्य'। इस औचित्य का संबंध शब्द एवं अर्थ-दोनों से है। उद्भट ने शब्दार्थ का वैशिष्ट्य अलंकार के कारण बताया था और आचार्य महिम ने औचित्य के कारण! इन दोनों के अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। भट्टजी की यह भी विशेषता है कि जहाँ अन्य लोगों ने वाङ्मय के तीन भेद किए हैं, वहाँ इन्होंने शास्त्र के तीन भेद किए हैं।

इस धारा के अन्य उल्लेखनीय आचार्य **रुद्रट** हैं, जो संभवतः नवम शताब्दी के उत्तरार्द्ध के हैं। इन्होंने अपने काव्यालंकार में काव्य का स्वरूप यों बताया है—'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'—मानो किसी से रुष्ट होकर उत्तर दे रहे हों—हाँ, हाँ शब्द एवं अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहे जाते हैं। बताया है कि 'ननु' पृष्टप्रतिवचन (पूछे गए प्रश्न के उत्तर) का द्योतक है।

१२. अलङ्काराणां चाभिधात्यत्वमुपगतं तेषां भङ्गिभणितिभेदरूपत्वात्। – व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १६।

१३. कुछ अन्य आचार्यों ने व्यापार द्वारा ही काव्य की विशेषता पर बल दिया है। इनमें से कुन्तक तथा भट्टनायक के विषय में अलंकारसर्वस्व की टीका समुद्र बन्ध में कहा है – "वक्रोक्तिजीवितकारभट्टनायकयोः द्वयोरपि व्यापारप्राधान्येऽविशिष्टेऽपि पूर्वत्र विशिष्टाया **अभिधाया प्राधान्यम्,** उत्तरत्र रसविषयस्य भोक्तृत्वापरपर्यायस्व व्यञ्जनस्य"।

१४. त्रिविधं हि शास्त्रं शब्दप्रधानमर्थप्रधानमुभयप्रधानश्चेति। तत्र शब्द प्रधानं वेदादि, अध्ययनादेवाभ्युदयश्रवणात् मनागपि पाठविपर्यासे प्रत्यवायश्रवणाच्च। अर्थ प्रधानमितिहास पुराणादि तस्यार्थवादमात्र रूपत्वात्। उभयप्रधानं सर्गबन्धादि काव्यं तस्य-रसात्मकत्वाद् रसस्य चोभयौचित्येन परिपोषदर्शनात्। काव्यस्यापि शास्त्रत्वमुपपादितमेव॥
—व्य० वि०, वृ० वि० ४२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके टीकाकार नमि साधु[१५] ने इस लक्षण की विशेषता स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'शब्द' एवं 'अर्थ' का तादात्म्य होने के कारण यद्यपि 'शब्द' की उक्ति से 'अर्थ तत्व' का सद्भाव सिद्ध है, तथापि दोनों की शब्दतः उक्ति करने में लेखक का विशेष अभिप्राय ध्वनित होता है। अभिप्राय यह है कि यदि दोनों में से किसी एक का ही लक्षण-वाक्य में कथन होता और पारस्परिक सापेक्षतावश, दूसरे की प्रतीति आक्षिप्त हो जाती, तो उसका महत्व कुछ हल्का पड़ जाता। हल्का पड़ने का तात्पर्य यह कि उसकी स्थिति उत्कृष्ट या अपकृष्ट—किसी भी प्रकार की हो सकती है। उसकी उत्कृष्ट प्रतीति के लिये कोई विशेष प्रतिबंध नहीं होता। इसके विपरीत जब दोनों का शब्दतः उपादान होगा, तो पाठक को यह जिज्ञासा सहज ही हो सकती है कि जब शब्दमात्र की ही उक्ति से अर्थ-प्रतीति हो जाती है, तो 'अर्थ' को शब्दतः कहने की क्या आवश्यकता ? इस स्थिति में इस कथन की सार्थकता यही कहकर बताई जा सकती है कि काव्य में शब्द की ही भाँति अर्थ की भी समकक्ष महत्ता है। इस समकक्षता का बोध कराने के लिये शब्द और अर्थ—दोनों का शब्दतः उल्लेख ही प्रशस्ततम पथ है।

ध्वन्यालोककार आनंदवर्द्धन ने भी प्रसंगतः चतुर्थ उद्योत में कहा है—शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे ··· ··· ···। निष्कर्ष यह कि ये भी इसी धारा के आचार्य हैं। ये भी शब्दार्थ के साहित्य को ही साहित्य कहते हैं। साहित्य से अभिप्राय काव्य का ही है। यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि लोचनकारने भी कहा है कि काव्यमिति—'शब्दार्थावित्यर्थः' अर्थात् शब्द एवं अर्थ, दोनों ही काव्य हैं।

नमिसाधु ने रुद्रट के काव्य-लक्षण का जिस रूप में स्पष्टीकरण किया है, उसकी संपुष्टि **राजशेखर** ने भी 'शब्दार्थयोः यथावत्सहभावेन साहित्यम्' कह कर की है। इन्होंने यह बताया कि शब्द एवं अर्थ का जैसा-तैसा भी सहभाव साहित्य नहीं है, बल्कि 'यथावत्—उचित' सहभाव ही साहित्य है। इनकी व्याख्या महिमभट्ट के अधिक समीप है, उद्भट दूर जा पड़ते हैं। महिम ने भी शब्द एवं अर्थ के रस-सापेक्ष औचित्य पर ही अधिक बल दिया है।

इस 'यथावत्' की व्याख्यावक्रोक्ति जीवितकार कुंतक ने बहुत ही स्पष्ट की है। 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनौ। बंधे व्यवस्थितौ काव्यम्'—कुंतक। उन्होंने बताया है कि चारुता की दृष्टि से शब्द एवं अर्थ में परस्पर जबर्दस्त होड़ होनी चाहिए। ऐसे ही परस्पर प्रतिस्पर्धी शब्दार्थ का साहित्य, यथावत् साहित्य कहा जाता है। प्रतिस्पर्द्धा के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि शब्द को 'विवक्षितार्थैकपरतन्त्र' तथा अर्थ को 'सहृदयहृदयाह्लादकारिस्वस्पंदसुंदर' होना चाहिए। निष्कर्ष यह कि शब्द ऐसा हो, जो ईप्सित अर्थ को देने में, एकमात्र अपने पर्यायों के बीच अकेले क्षम हो और अर्थ ऐसा हो, जो

१५. कवेः काव्योपयोगिनोः शब्दार्थयोरन्योन्य व्यभिचारादेकतरोपादातेनैव द्वितीये लब्धे द्वितीयोपादानं काव्ये द्वयस्यापि प्राधान्यं ख्यापनार्थम्। अन्यथा हि शब्दार्थयोरेकतरोपाखडाकारन्यतरस्यालंकारैर्विरहितमपि दोषैश्च युक्तमपि काव्यं साधु स्यात्। द्वयोपादानेन तुल्यकक्षतया शब्दार्थौ द्वावपि काव्यत्वेनाङ्गी कृतौ भवतः। द्वयमेतत्समुदितमेव काव्यं भवतीति तात्पर्यम्।
—काव्यालंकार टीका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहृदयों के हृदय में सोती हुई वासना को झकझोर कर आंदोलित कर दे। रुय्यक की भी गणना इसी धारा के भीतर करनी चाहिए।

इस प्रकार इस धारा की सभी वक्तव्य विशेषताएँ यही हैं। 'शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधै रात्मान्यथापि ध्वनि' कहने वाले 'एकावली' कार विद्याधर की गणना भी इसी धारा में है। नन्राज यशोभूषणकार ने भी कहा है—'कविसमयानुरोधेन निबद्धौ शब्दार्थौ काव्यम्'।

संक्षेप में सामान्यवादी विचारधारा के अनुयायियों और समर्थकों की चर्चा यहाँ प्रस्तुत की गई। उपर्युक्त आचार्यों ने या तो साक्षात् इस सामान्यवादी धारा का प्रतिपादन किया है, अथवा परंपरया उक्त मत का समर्थन। **विशेषवादी** तथा **सामान्यवादी**—इन दोनों धाराओं के मतों का विश्लेषण किया जाय तो यह देखा जा सकता है कि **सामान्यवादी** धारा के लक्षण की परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित भावना ही वस्तुतः विशेषवादी धारा में प्रतिबिंबित है। इस कारण इन सिद्धांतों को 'विशिष्ट शब्दार्थ' वाद की शाखा के रूप में वर्णित किया गया है।

*

GURUKULA KANGRI LIBRARY HARDWAR

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत के कुछ कूट स्थल

वासुदेवशरण अग्रवाल

यह सुविदित है कि महाभारत के विशाल कथा - प्रसंग में कुछ ऐसे कूट श्लोक आ जाते है जिनकी व्याख्या में पूर्व टीकाकारों को कठिनाई का अनुभव हुआ है। ऐसे कुछ स्थलों का निर्देश मैं यहाँ करना चाहता हूँ।

१

पण्यानां शोभनं पण्यं कृषीणां बाद्यते कृषिः।
बहुकारं च सस्यानां वाह्ये वाह्यं तथा गवाम् ॥

[शान्तिपर्व, १८६, २०]

नीलकंठ – विप्राणां पूजनमेवोत्तमं पुण्यम् उत्तमा कृषिश्च तद्वत् दृष्टफलमित्यर्थः।
अर्जुनमिश्र – पण्यानामिति। पण्यजीविना पण्यस्थाने प्रसारितं पण्यमिति स्पर्शापवादः।
वादिराज – कोई टीका नहीं।

श्लोक का अर्थ स्पष्ट है किंतु उसके मुख्य शब्दों पर विचार करने से वह स्फुट हो जाता है। इसमें चार वस्तुओं की इस प्रकार प्रशंसा है –

१ - पण्यानां शोभनं पण्यम् – इसमें दो बार पण्य शब्द आया है। पहले पण्य का अर्थ है विक्री योग्य सामान या पदार्थ; दूसरे पण्य का अर्थ है वे विशेष पदार्थ जो विक्री के लिये बाजार की दुकानों में प्रदर्शित करके रखे जाते हैं। इस पण्य का अर्थ पाणिनि सूत्र ३, १, १०१ (अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु) के अनुसार पणितव्य किया जाना चाहिए। इस पर काशिका ने लिखा है – पण्यमिति निपात्यते पणितव्यं चेत्तद्भवति, पण्यः कम्बलः, पण्या गौः। तात्पर्य यह कि यदि किसी को कंबल या गाय मोल लेनी है तो वह उसे निजी तौर पर कहीं भी सौदा करके ले सकता है। दूसरे वह उसे मोल लेने के लिये बाजार जाकर वहाँ प्रदर्शित अनेक वस्तुओं में से चुनकर बेसाह सकता है। जो वस्तुएँ दुकान पर विक्री के लिये रखी जाती हैं वे प्रामाणिक और अच्छी समझी जाती हैं। उनमें ठगे जाने की संभावना कम है। अतएव पण्यानां शोभनं पण्यम्, इस लोकोक्ति का जन्म हुआ। इसका अर्थ यह है कि बिकने वाली वस्तुओं में वे उत्तम हैं जो पण्य अर्थात् दुकान में विक्री के लिये रखी गई हों। इनके लिये पणितव्य शब्द भी प्रयुक्त होता था।

२ - कृषीणां बाद्यते कृषिः – इसमें भी दो बार 'कृषि' शब्द आया है। पहले कृषि शब्द का अर्थ व्यापक और दूसरे का सीमित है। जैसा पतंजलि ने लिखा है – नाना क्रियाः कृषेरर्थाः, नावश्यं कृषिर्विलेखन एव वर्तत (भाष्य ३, १, २६)। ये नाना क्रियाएँ क्या होती थीं, यह प्रायः सुविदित है। फिर भी शतपथ के अनुसार उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है – कृषन्तः वपन्तः लुनन्तः मृणन्तः (शतपथ १, ६, १, ३) अर्थात् जुताई, बुआई, लवनी और मड़नी – इन चारों का संमिलित नाम कृषि या खेती है। दूसरे कृषि शब्द का अर्थ 'कृषिर्विलेखने' इस आधार पर केवल जुताई किया जायगा। यह लोकोक्ति किसान की भाषा से ली गई थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि खेती की कई प्रक्रियाओं में जुताई का महत्व सबसे अधिक है। खेत को जितने वाहन दिए जाँय और लौट-पौट कर जितनी गहरी जोत की जाय उपज के लिये हितकर है। आज भी किसानू भाषा में कई कहावतें हैं जिनसे जुताई का बड़प्पन ज्ञात होता है –

जेतना गहिरा जोतै खेत। बीज परे फल अच्छा देत ॥
मेढ़ बाँध दस जोतन दे। दस मन बिगहा मोसे ले ॥

जोतै खेत घास न टूटै। तेकर भाग साँझ ही फूटै ॥
जो हल जोतै खेती वाकी। और नहीं तो जाकी ताकी ॥

इस श्लोक में 'वाधते' पद कठिन है। नीलकंठ ने लिखा है – वाधते स्थिरीक्रियते। बद स्थैर्ये इति धातुः। सधकारः पाठः प्रामादिकः। निःसंदेह धातुपाठ में बद धातु है और उसका अर्थ स्थिर होना होता है। उसी से एयन्त कर्मवाच्य में बाधते रूप सिद्ध होगा; अर्थात् खेती की कई प्रक्रियाओं में जुताई को मुख्य मानकर किसान उसे ही अपने कर्म का स्थिर आधार बनाता है। कुछ हस्तलिखित प्रतियों में ऋध्यतां या ऋध्यते पाठांतर भी है। यह भी उत्तम पाठ हो सकता था क्योंकि ऋध् धातु का प्रयोग खेती के प्रसंग में अन्यत्र आया है— सीता मे ऋध्यतां देवि बीजेषु च धनेषु च (अर्थ शास्त्र २, २४)। लेकिन वाधते प्रयोग के संबंध में एक संभावना और है। कुरु प्रदेश की जनपदीय बोली मेरठ दिल्ली आदि के क्षेत्र में बाजना धातु कहने के अर्थ में अभी तक प्रयुक्त होती है। इसका मूल संस्कृत वाधते ही संभव है। तब इस वाक्य का सीधा अर्थ होगा – कृषि की कई प्रक्रियाओं में जुताई सबसे सुंदर कही जाती है।

३ - बहुकारं च सस्यानाम् – सस्य का अर्थ खड़ी फसल या हरी खेती है। अर्थशास्त्र में यह शब्द इस अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। वहाँ हरी खेती को सस्य और पकी फसल को मुष्टि कहा गया है। इस वाक्य में बहुकार शब्द में अर्थ की कुंजी है। ३, २, २१ सूत्र में पाणिनि ने बहुकर शब्द का उल्लेख किया है। बहुकरी का अर्थ संमार्जनी है। हिंदी का बहारी या बुहारी शब्द इसी से निकला है। बहुकरी से मिलता हुआ उसी अर्थ में वर्धनी शब्द भी झाड़ू के लिये प्रयुक्त होने लगा जिससे बोलचाल का बढ़नी शब्द बनता है। बहुकरी और वर्धनी – दोनों मांगलिक शब्द समझे जाते हैं और झाड़ू उसीका अमांगलिक प्रयोग है। बाण भट्ट ने हर्षचरित में बहारने वाले के लिये व्यवहारिन् शब्द का भी प्रयोग किया है (परिजनोत्थापनव्यापृतव्यवहारिणि – हर्षचरित उच्छ्वास ७)। व्यवहारिन् और व्यवहारिणी शब्द की व्युत्पत्ति विचारणीय है। लोक में पूर्व-परंपरा से प्राप्त बहुकरी या बहुकारी शब्द बहारी या बुहारी के लिये प्रयुक्त होता था। पाइअसद्दमहण्णव में देशी बहुरिया शब्द का भी बुहारी या झाड़ू के लिये उल्लेख आया है। प्राकृत भाषा के बहुअरी या बहुआरी शब्द-रूपों को पुनः संस्कृत में परिणत करके व्यवहारिणी शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ होगा। प्रस्तुत श्लोक के 'बहुकारं च सस्यानाम्' पद का सीधा अर्थ यह हुआ – हरी फसल के लिये सफाई या निराई सबसे शोभन या महत्त्वपूर्ण कर्म है। बीज अच्छा हो, जुताई ठीक हो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पानी समय से लगा हो, पर यदि खेत का झाड़ – झंखाड़ निराया नहीं गया है तो फसल कुछ न हो सकेगी।

४ - वाह्यं वाह्यं तथा गवाम् – वाहनों में बैल जुता हुआ वाहन बढ़िया माना जाता है। यह प्राचीन जनपदीय जीवन के ठाट-बाट की हल्की झांकी है जब किसान अपने बैलों को जी भर प्यार करते थे, उनके सींगों में तेल लगाकर लाल मुड़ासा बांधते थे और लंबी मंजिल तय करने पर उन्हें घी की नाल पिलाते थे। तब गाय का जाया बैल चाल में घोड़े को भी कुछ न गिनता था। उसी समय रथ आदि गो - प्रयुक्त वाहनों के लिये यह संमानित उक्ति अस्तित्व में आई होगी।

२

काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसंतर्जनं तथा
सन्तानं नर्तनं घोरमास्यमोदकमष्टकम्
एतैर्विद्धा सर्व एव मरणं यान्ति मानवाः
उन्मत्ताश्च विचेष्टन्ते नष्टसंज्ञा विचेतसः
(उद्योग ६४, ३८ - ३९)

पहला श्लोक जान बूझकर कूट रूप में कहा गया है। इन शब्दों के सीधे अर्थ इस प्रकार हैं—

काकुदीक = बड़े कूबड़ वाला बैल
शुक = सुग्गा, जिसकी टोंट टेढ़ी होती है।
नाक = दुःखरहित अवस्था, सुखमय स्वर्ग।
अक्षिसंतर्जन = आँख का उठना।
संतान = स्वर्ग का एक वृक्ष या उसके फूल जिससे मद चुआया जाता था।
नर्तन = नाचना, नाचते हुए अकड़ने वाले मोर से तात्पर्य है।
घोर = भयंकर, सताने वाला।
आस्यमोदक = मुँह का लड्डू।

एक ही साँस में आठ बेजोड़ वस्तुओं को एक साथ गिना दिया गया है। श्लोकों का सीधा अर्थ इस प्रकार होगा – कूबड़ वाला बैल, टेढमुँहा सुग्गा, मौज-मजे वाला स्वर्ग, दुखती आँख, मद चुआने वाला कल्पवृक्ष, मटक कर नाचता हुआ मोर, सताने वाला घोर भैरव, मुँह का लड्डू – ये आठ जिसे बींध देते हैं, वह मर जाता है, या बौरा जाता है, या बेहोश हो जाता है।

सर्वज्ञनारायण ने देवबोध का प्रमाण देते हुए इन आठ शब्दों को मानसिक विकारों का प्रतीक माना है –

काम क्रोधौ मोहलोभौ मदमानौ तथैव च
मात्सर्याहंकृती चैव क्रमादेत उदाहृताः।

इस सूची में सबसे पहला वृष या कूबड़वाला बैल काम का प्रतीक है। टेढमुँहा सुग्गा क्रोध का प्रतीक है। मटकता हुआ मोर मान का प्रतीक है। दुखती हुई आँख मोह का प्रतीक है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे स्पष्ट देखने की शक्ति मारी जाती है। नाक लोभ का प्रतीक है, धनी व्यक्ति धन को सब संसारी रोगों की औषधि समझता है। संतान स्वर्ग का वृक्ष था और उसी का सजातीय मन्दार था। मन्द का संबंध सोम या मद से माना जाता था। संतान को भी मद का प्रतीक मानना संगत था। आरयमोदक अहंकार का प्रतीक है। वह ऐसा लड्डू है जिसका मिठास भीतर ही भीतर घुलता रहता है। मौनियर विलियम्स के संस्कृत कोष के अनुसार यह किसी शस्त्र की संज्ञा थी किंतु वह अर्थ यहाँ संगत नहीं होता। हमारी संमति में देवबोध ने इसके सांकेतिक अर्थ को ठीक पकड़ा था। यदि इस श्लोक पर उनकी पूरी व्याख्या उपलब्ध होती तो इसके अर्थों पर कुछ और भी प्रकाश पड़ना संभव था। मात्सर्य मनुष्य के अंतःकरण को सतानेवाला घोर भैरव है।

३

जलेचरः कांचनयष्टिसंस्थो व्यात्ताननः सर्वतिमिप्रमाथी
वित्रासयन् राजति वाहमुख्ये शाल्वस्य सेना प्रमुखे ध्वजाग्रः

(आरण्यक १८, ७)

आरण्यक १८, २ में शाल्व की ध्वजा को मकरकेतु कहा गया है। इस श्लोक का जलेचर शब्द मकर के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। श्लोक में 'व्यात्ताननः' पद उसके अर्थ की कुंजी है। सोने की डंडी के सिरे पर जो सोने की पताका लगी हुई थी उस पर मकर की आकृति अंकित न करके स्वयं पताका की आकृति ही मकर जैसी बनाई गई थी। मुँह की तरफ से वह पताका डंडे से जुड़ी हुई थी। उसके खुले हुए मुँह में हवा भर जाने से वह फूल जाती थी और फहराने लगती थी। शुंग काल से लेकर गुप्त काल तक की शिल्प कला में जो कई प्रकार के झंडों की आकृतियाँ मिलती हैं उनमें ठीक इसी प्रकार की मकराकृति पताकाएँ भी पाई गई हैं। उनमें से अधिकांश अजंता के भित्तिचित्रों में अंकित हैं। किंतु इस प्रकार का व्यात्ताननन मकरकेतु गुप्तकालीन अजंता - कला से भी कुछ पूर्व अस्तित्व में आ चुका था। अहिच्छत्रा से प्राप्त एक शिलापट्ट पर बुद्ध के मारधर्षण के दृश्य में वह अंकित मिला है। वह पट्ट मथुरा के लाल पत्थर का है और लगभग तीसरी शती ईसवी का है। वह इस समय लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है (लखनऊ संग्रहालय ४६ - १३)। श्लोक का अर्थ इस प्रकार हुआ – सुनहले डंडे के सिरे पर तिमिभक्षक मकर मुंह फैलाए हुए डरावना लग रहा था जो कि शाल्वराज की सेना के आगे ध्वजा के अग्रभाग में दिखाई पड़ रहा था। महाभारत का यह श्लोक रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक से तुलना करने योग्य है –

मत्स्यध्वजा वायुवशाद् विदीर्णैं
मुंखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः
पर्याविलानीव नवोदकानि।

(रघु० ७, ४०)

कालिदास का भाव तभी स्पष्ट समझा जा सकता है जब मत्स्यध्वजा का अर्थ मछली की आकृति से अंकित ध्वज - ऐसा न लेकर मत्स्याकार ध्वज - ऐसा लिया जाय। अर्थात् कपड़े से बने हुए ध्वज का कटाव मछली के आकार का था। उसका मुँह दंड के समीप था और पूँछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भाग वायु में फहरा रहा था। सेना से उठी हुई धूलि वायु के साथ कपड़े की मछली के मुँह में भर कर उसे फुला रही थी। उस पर कवि की कल्पना है मानो सचमुच की मछली वर्षारंभ में नदी का गदला जल पी रही हो।

४

कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परन्तप।
अविहाय महाराज विहंसि समरे रिपून्॥

(सभा ५, ५४)

नीलकण्ठ – लवः सस्यच्छेदन कालः। मुष्टिः सस्यानां गोपनकालः दुर्भिक्षमिति यावत्। लूञ् छेदने मुषस्तेये आभ्यामधिकरणे घक्तिनौ। परराष्ट्रे क्षेत्रस्थेषु सुखलब्धान्नदुर्भिक्षे च राजकुल-लब्ध भक्तोपजीविभिर्निरन्नताक्रान्ताः शत्रवः सुखं जेया इत्यर्थः।

लव और मुष्टि पारिभाषिक शब्द थे। नीलकण्ठ के किए हुए अर्थ में वह बात पकड़ में नहीं आई। हरी फसल को सस्य और पकी फसल को, जो कटने के लिये तैय्यार खड़ी हो, मुष्टि कहा जाता था। अर्थशास्त्र में इन दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। वहाँ कहा है कि राजा शत्रु के देश पर चढ़ाई करना चाहे और उसकी इच्छा हो कि वहाँ की हरी और पकी फसल – दोनों का नाश करे तो उसे ऐसा करना चाहिए। वर्षा ऋतु की सावनी खेती (वार्षिक सस्य) अगहन में पककर तैयार होगी जो हैमन मुष्टि कहलाएगी। अतएव अगहनी खेती को नष्ट करने के लिये विजिगीषु राजा मार्गशीर्ष में दण्ड - यात्रा पर उठे। हैमन मुष्टि आज कल की भाषा में खरीफ की फसल हुई। मार्गशीर्ष में बोई हुई खेती (हैमन सस्य) कहीं वसंत ऋतु में जाकर तैयार होती है। तब उसे वासंतिक मुष्टि कहते हैं। वही आजकल की रबी की फसल है। जो राजा चैत के महीने में अभियान करेगा वह वासंतिक मुष्टि या चैती फसल को या तो नष्ट कर सकेगा या उसकी पैदावार पा सकेगा (अर्थशास्त्र ९।१, शामशास्त्री संस्करण पृष्ठ ३४१)। कौटिल्य और महाभारत दोनों में एक ही बात का उल्लेख किया जा रहा है। मुष्टि शब्द भी दोनों में समान है। अतएव ज्ञापित होता है कि जिसे अर्थशास्त्र में सस्य कहा है वही सभापर्व का लव है। सस्य की व्युत्पत्ति शसु हिंसायाम् और लव की लूञ् छेदने धातु से है। अर्थ की दृष्टि से दोनों में मारने या काटने का भाव है। हरी खेती में प्राण की विद्यमानता समझी जाती थी और वही प्राण फसल के पकने और पौधों के सूखने पर निःशेष हो जाता है। मत्स्यपुराण में भी राजा के यात्राकाल का विचार करते समय यही बात कही गई है –

चैत्र्यां वा मार्गशीर्ष्यां वा यात्रां यामान्तराधिपः।
चैत्र्यां पश्येच्च नैदाघां हन्ति पुष्टिं [❀ मुष्टिं] च शारदीम्॥
एतदेव विपर्यस्तं मार्गशीर्ष्यां नराधिपः।
शत्रो र्वा व्यसने यायात् काल एव सुदुर्लभः॥

(मत्स्य २४०।५, ६)

राजा चैती पूनो या अगहनी पूनो में सैनिक यात्रा के लिये चले। वह चैत में उठेगा तो उसे वह हरी फसल बोयी हुई मिलेगी जो निदाघ या गर्मी में पककर तैयार होगी और उसी समय उसे वह पकी हुई फसल मिलेगी जो अगहन में बोयी गई थी और जो चैत में पककर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैयार हुई होगी। इसे ही शारदी मुष्टि कहा गया है। हमारी संमति में यहाँ मूल पाठ शारदी मुष्टि ही रहा होगा जो इस पुराण के अच्छे हस्तलिखित कोशों में (आदर्श ग्रंथों में) देखने योग्य है। मार्गशीर्षी या अगहनी पूनो की तिथि में यात्रा करने से स्थिति ठीक इसकी उलटी होगी, अर्थात् उस समय गर्मी में बोयी गयी फसल पकी हुई तैयार मिलेगी और अगहन की बोयी हुई फसल हरी मिलेगी।

५

पृथग् जनस्य कुडकाः स्तनपाः स्तनवेश्मनि।
नृत्यन्ति परिगायन्ति वेदयन्तो महद्भयम्॥
(भीष्म पर्व ३।८)

इस श्लोक पर इस पर्व के विद्वान संपादक श्री एस० के० बेलवलकर ने एक टिप्पणी दी है। उन्होंने कुडकाः इस शब्द को कुडिकाः का पाठांतर माना है और इसका अर्थ किया है पानी के छोटे गगरे। फिर उससे अर्थ की संगति न देखकर उन्होंने मूल पाठ कुडवाः या कुडपाः होने का अनुमान किया। उसका अर्थ अन्न मापने के छोटे वर्तन समझा है। फिर वे लिखते हैं कि गरीबों के घर में बड़े वर्तन होने की संभावना न थी अतः छोटे वर्तनों का ही उल्लेख हुआ है। फिर उनका कहना है कि घरों में रखे हुए वे वर्तन यह सोच कर नाचने लगे कि युद्ध के बाद जब आपत्काल आएगा तो उन वर्तनों का बार - बार इस्तेमाल किया जायगा – यह सोचकर वर्तन नाचने लगे। इस प्रकार की असंबद्ध कल्पना करने की अपेक्षा यह लिखना अच्छा होता कि श्लोक का ठीक अर्थ नहीं लगा। स्तनपाः शब्द पर टिप्पणी देते हुए वे फिर लिखते हैं कि स्तनपाः का पर्याय कई हस्तलिखित प्रतियों में तनपाः = क्षुद्रकाः है और इन सबका अर्थ दूध पीते बच्चे ही लेना चाहिए। जिसका हमने ऊपर स्तनवेश्मनि पाठ माना है उसके स्थान पर श्री बेलवलकर ने स्तेनवेश्मनि शुद्ध मानकर उसे मूल में रखा है और लिखा है कि स्तन - वेश्मनि पाठ, जो शारदा लिपि की एक प्रति में है अशुद्ध पाठ है! उन्होंने यह अर्थ किया है कि चोरों के घरों में बच्चे यह सोच कर खुश हुए और गाने लगे कि अराजकता के समय में उनका धंधा चमकेगा।

इस श्लोक में क्या बात कही गई है, इसे स्पष्टता और समीचीन संगति से समझना चाहिए। महाभारत युद्ध से पहले जो अपशकुन होने लगे थे उनका यहाँ वर्णन है। यहाँ 'कुडकाः' शब्द का अर्थ 'बालक' या 'बच्चे' है। पंजाबी भाषा में छोटी लड़की को कुड़ी और छोटे लड़कों को कुड़ा (मुंडा और काका भी) कहते हैं। कुड़ी का मूल शब्द कुटिका, कुडिका या प्राकृत कुडिआ था और उसी के लिये पुंलिंग रूप कुटक या कुडप था। मोनियर विलियम्स, आप्टे आदि कोषों में कुटक और कुटिका शब्दों का यह अर्थ नहीं पाया जाता। पाइअसद्द महण्णव कोष में भी कुडग शब्द तो है किन्तु यह अर्थ नहीं है। सौभाग्य से हरिषेणकृत बृहत्कथा कोष (रचनाकाल सं० ६८६) में कुटिका शब्द कन्या के अर्थ में आया है –

पूर्णभद्रवचः श्रुत्वा धनदत्तो बभाण तम्।
यच्छामि कुटिकां तेऽहं यदि देहि धनं बहु॥
निशम्य धनदत्तोक्तं पूर्णभद्रो जगावमुम्।
कुटिकां देहि मे शीघ्रं गृहाण त्वं धनं बहु॥
(बृहत्कथा कोष ३०।८ – ६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक हस्तलिखित प्रति में 'कुटिकां' का अर्थ 'कन्यां' दिया हुआ भी है।

महाभारत के श्लोक में मूल पाठ 'कुडकाः' ही था। एक कश्मीरी प्रति में उसका पाठांतर दिया भी है जो उसके अर्थ का ही सूचक है। 'स्तनपाः का अर्थ 'दूध पीते बच्चे' है। 'स्तेनवेश्मनि' एक दम निरर्थक अपपाठ है। इसका शुद्ध पाठ 'स्तनवेश्मनि' ही था। इस पर्व की शारदा लिपि में लिखी हुई एक मात्र प्रति (श १) में 'स्तनवेश्मनि' पाठ ही है। वही श्रेष्ठ मौलिक था। स्तनवेश्म का अर्थ दूध पिलाने का कमरा या घर का वह भाग हुआ जिसमें निष्क्रमण संस्कार से पूर्व बच्चा रखा जाता था। अब इस श्लोक का ठीक अर्थ इस प्रकार होगा – यदि सामान्य लोगों के घरों में ऐसे छोटे बच्चे जो अभी दूध पिलाने के स्थान में ही हैं, नाचने-गाने लगें तो वह दुर्निमित्त महाभय सूचित करता है। श्री प्रोफेसर एच० डब्ल्यू० बेली (कैम्ब्रिज) ने २४ मई सन् १९५४ के अपने पत्र में मुझे सूचित किया है कि मध्य ऐशिया में क्रोरमिन से मिले हुए लेखों में कुडा (लड़का) और कुडी (लड़की) शब्द आए हैं। इससे एक अनुमान और संभव प्रतीत होता है, वह यह कि उत्पात और दुर्निमित्तों की लंबी सूची वाला यह प्रकरण महाभारत में गुप्त - युग के लगभग, जब इस ग्रंथ का अंतिम संस्करण हुआ, उस समय जोड़ा गया। मूल ग्रंथ के कथा-प्रवाह में यह प्रसंग वैशंपायन से कहलाया गया है। मध्य एशिया से प्राप्त हस्तलिखित सामग्री का जो समय है वही महाभारत के इस प्रकरण का भी ज्ञात होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विमर्श

देवनागरी में अँग्रेज़ी शब्दों का उच्चारण

गोरखप्रसाद

•

अँग्रेज़ी शब्दों का शुद्ध उच्चारण देवनागरी में लिखना विशेष रूप से कठिन इस कारण हो जाता है कि उसमें ह्रस्व ए, ऐ, ओ और औ की मात्राएँ हैं ही नहीं। इसके लिए विशेष मात्राएँ बनी अवश्य हैं, परंतु वे प्रेसों में अब अप्राप्य हैं। निम्न रीति से यह असुविधा मिट जाती है। परंतु संभव है लोगों को इसमें आपत्ति हो। लेखक जानना चाहता है कि वे आपत्तियाँ क्या हैं। स्मरण रहे कि यह उच्चारण-प्रणाली केवल कोष में शुद्ध उच्चारण बताने के लिए उपस्थित की जा रही है। साधारण भाषा में इसका उपयोग नहीं किया जायगा।

नियम १—जहाँ किसी विदेशी शब्द का शुद्ध उच्चारण देवनागरी में लिख कर बताया गया है वहाँ ए, ऐ, ओ और औ की मात्राएँ सर्वत्र ह्रस्व समझी जायँ; केवल जब उनके आगे प्लुतचिह्न ऽ लगा हो या ऐक्सेंट ′ लगा हो तभी वे दीर्घ समझी जायँ।

नियम २—प्रत्येक शब्द-खंड का अंतिम व्यंजन हलंत युक्त समझा जाय, केवल तभी वह स्वर युक्त समझा जाय जब उसके आगे ऽ चिह्न रहे या कोई मात्रा रहे।

प्रामाणिक उच्चारण

अ (ह्रस्व)	: hut हट; but बट; sofa सो′फ़ऽ (यहाँ सो में ओ की मात्रा दीर्घ है); idea आइ-डी′अऽ
आ (दीर्घ)	: father फ़ा′दर; arm आर्म
इ (ह्रस्व)	: hit हिट; create क्रि-एऽट
ई (दीर्घ)	: Eve ईव; heat हीट
उ (ह्रस्व)	: book बुक; foot फ़ुट
ऊ (दीर्घ)	: moon मून; shoot शूट
ए (ह्रस्व)	: end एंड; get गेट
ए′ या एऽ (दीर्घ)	: gate गेऽट; date डेऽट; daily डे′ली
ऐ (ह्रस्व)	: account ऐ-काउंट′; husband हज़′बैंड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐ' या ऐऽ (दीर्घ) : hat हैऽट; add ऐऽड;
ओ (ह्रस्व) : obey ओ-वे'; anatomy ऐ-नैट'ओ-मि
ओ' या ओऽ (दीर्घ) : old ओऽल्ड; over ओ'वर
ऑ (दीर्घ) : orb ऑर्ब; hot हॉट
आइ (संयुक्त) : ice आइस; sight साइट
आउ (संयुक्त) : out आउट; thou दाउ
ऑय (संयुक्त) : oil ऑयल; noisy नॉयज़'इ
इय (संयुक्त) : here हियर; fear फ़ियर
उअ (संयुक्त) : poor पुअर
एअ (संयुक्त) : care केयर; share शेयर
यु (ह्रस्व) : united यु-नाइ'टेड; formulate फ़ॉर'म्यु-लेऽट
यू (दीर्घ) : cube क्यूब; duty ड्यू'टी
, : pardon पार'ड'न; eaten ईट''न; table टे'ब'ल
ज़ह (व्यंजन) : usual यू'ज़हु-अल; pleasure प्लेज़ह'अर
ज़ (व्यंजन) : zone ज़ोऽन; haze हेऽज़
फ़ (व्यंजन) : feel फ़ील; philosophy फ़ि-लॉस'ओ-फ़ि

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चयन

पंजाब में हिंदी काव्य

एल. डो. बार्नेट

•

[ब्रिटिश म्युजियम में संगृहीत कुछ ऐसे गुरुमुखी ग्रंथों की ओर प्रस्तुत निबंध में संकेत किया गया है जिन्हें गुरुमुखी में होने मात्र से पंजाबी समझा गया है। बुलेटिन आफ द ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज, लंदन, खंड बीस (सर राल्फ टर्नर अभिनंदन अंक) में प्रकाशित इस निबंध का सारांश यहाँ प्रस्तुत है।

बहुत पूर्व ही यह स्वीकार कर लिया गया था कि सिखों के आदि ग्रंथ का आरंभ गुरु नानक (१४६९ – १५३८) की पश्चिमी हिंदी की बानियों और गद्यात्मक उपदेशों से होता है। वही आगे उनके उत्तराधिकारियों के उपदेशों से समन्वित होकर अपने वर्तमान रूप में विकसित होता हुआ पंजाबी की ओर उन्मुख हुआ। दूसरी ओर गुरु गोबिंद सिंह के दशम ग्रंथ साहब की रचना भी प्रायः टकसाली पश्चिमी हिंदी में हुई। सन् १८७७ में प्रो० ट्रम्प ने अपने आदिग्रंथ के अनुवाद में इन तथ्यों पर प्रकाश डाला। उन्होंने आदि-ग्रंथ को असंबद्ध, दुरूह तथा उलझी भाषा का बताया।

परंतु अभी तक यह भली भाँति नहीं समझा गया है कि आदि ग्रंथ के परे भी एक विपरीत क्रम रहा है। सिख-धर्म-ग्रंथों की हिंदी और अर्द्धहिंदी भाषाओं ने पंजाबी सिख-साहित्य पर भाषा के रूपों के मिश्रण के द्वारा पर्याप्त प्रभाव डाला है। हिंदी के इस मिश्रण के होते पंजाब के कुछ साहित्यिक क्षेत्रों में ठेठ हिंदी अपने को जीवित रख सकी। अभी हाल तक उसमें हिंदू-सिखों के भक्ति, रहस्यवाद तथा इतिहास-संबंधी ग्रंथों की रचना हुई है।

पाश्चात्य पाठकों का ध्यान इनकी ओर इसलिये नहीं गया कि उनका मुद्रण गुरुमुखी अक्षरों में हुआ और इसीलिये उनका अशुद्ध वर्गीकरण पंजाबी भाषा के अंतर्गत हुआ। मुझे ऐसे कुछ ग्रंथ ब्रिटिश म्युजियम में मिले और अभी और भी मिलने की संभावना है। प्रस्तुत निबंध में ऐसे ही कुछ हिंदी और अर्द्धहिंदी काव्य (पोएट्री) के उदाहरण उपस्थित किए गए हैं।

सर्व प्रथम एक उदाहरण गुरु गोबिंद सिंह के दशम ग्रंथसाहिब से लेकर १९ वीं शती की कुछ रचनाओं का संकेत किया गया है। गुरुदासपुर जिले के गोरेबाह नामक स्थान के बाबा श्रीनिवासदास जी ने अपनी अन्य रचनाओं के अतिरिक्त 'सुखदायिक रामाइण' में राम-सीता की कथा का वर्णन किया है। लेखक के पौत्र काशीराम बेदी द्वारा गोरेबाह से इसका प्रकाशन तथा मुद्रण अमृतसर से १९०४ में कराया गया। इसके पृष्ठ ११८ से एक उदाहरण —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गए निषाद संग रघुबीरा। तूण निकट कर धन लए तीरा॥
सीता बीच लौग पीछे जाई। आगे चले सभन रघुराई॥
... ...
... ...

दूसरा उदाहरण अन्य प्रकार का है। इसमें दो अवतरण (पृ० ३ और २२६, द्वितीय संस्करण) ब्रह्मप्रकाश, सिख दृष्टिकोण से रहस्यवादी दर्शन पर छंदोबद्ध उपदेश, से लिए गए हैं। लेखक ने अपने को सुखी - दा कोट फरीदकोट का निवासी परम हंस सुख का दास बताया है। फरीदकोट के वीरसिंह संधू और हरद्वारी लाल ने १९२८ में अमृतसर से इसका मुद्रण कराया तथा प्रकाशित किया। भाषा प्रधानतः कुछ पंजाबी मिश्रण के साथ पश्चिमी हिंदी है।

एक अन्य पुस्तिका मुक्ति-नामा में आदिग्रंथ से रागों का संकलन किया गया है। संग्रहकर्ता हैं शार्दूल सिंह (प्रकाशन अमृतसर, मुद्रण लाहौर, १९०५)। मिश्रित भाषा में इसमें सिखों के नैतिक तथा धार्मिक निर्देश दोहा-चौपाइयों में हैं।

अब भारत सरकार ने समग्र भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी को स्वीकार किया है और पंजाब में अबतक एक प्रकार से उपेक्षित हिंदी का उज्वल भविष्य दिखाई पड़ता है, परंतु अब उसे पंजाब की निजी भाषा पंजाबी से टक्कर की भी आशंका है। पिछले दस वर्षों में विशेष रूप से पंजाबी में उच्च साहित्य का सृजन हुआ है – गद्य-पद्य में बेले लेटर्स, दर्शन, भाषाविज्ञान, और इतिहास का। एक पंजाबी लेखक ने हाल में कहा था, कि अब पंजाबी ने अपना स्थान बना लिया है।

संस्कृत कोशों में भूलें

जे. पी. एच. वोगेल

[बुलेटिन आफ द स्कूल आफ ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज, युनिवर्सिटी आफ लंदन खंड बीस में प्रकाशित 'एरर्स इन संस्कृत डिक्शनरीज' शीर्षक निबंध का संक्षेप।]

अपने संस्कृत कोशों में हमें कभी ऐसे शब्द प्राप्त होते हैं जिनके अनुवाद अशुद्ध हुए हैं। उलझन तब और होती है जब ये भारतीय आर्यों की सुपरिचित वस्तुओं के द्योतक तथा बहु-प्रयुक्त शब्द होते हैं। उदाहरण के लिये संस्कृत 'हंस' शब्द। पाश्चात्य प्राच्य - विद्या - विशारदों ने इसे 'गूज़' कहने के अतिरिक्त 'स्वान' और 'फ्लेमिंगो' भी बताया है। सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हंस का अर्थ अंग्रेजी 'गूज़' के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। पक्षि-यात्रा - विशेषज्ञों की राय पर आधारित मेरा मत है कि 'स्वान' पक्षी कभी भारत में नहीं दीखता और वह भारतीय है भी नहीं। 'फ्लेमिंगो' गुजरात में दीखता है पर उसके अंडे देने के स्थान मध्य एशिया के मूर और साल्टलेक प्रदेश हैं। ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतुओं में हंस का प्रिय स्थान मानसरोवर है। अशोक से लेकर मुगल काल तक गूज़ (गीज = हंस) की पंक्तियाँ स्थापत्य कला में उत्कीर्ण हैं। पर 'स्वान' और 'फ्लेमिंगो' कहीं नहीं।

ऐसी ही विषमताएँ संस्कृत 'मकर' शब्द के संबंध में भी हैं। कोशों में प्रायः सहज अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ए सी-एनिमल आर सी-मान्स्टर' दिया है। और यही भाव **मकरालय, मकराकर, मकरासन** का लिया गया है। ये सभी समुद्र के विशेषण हैं। कोशों ने एक गौण अर्थ क्रोकोडाइल, शार्क या डाल्फिन भी माना है। संस्कृतफ्रेंच डिक्शनरी के संपादकों का ध्यान ठीक गया और उन्होंने इसका अर्थ 'क्रोकोडाइल' ही माना। मूल अर्थ यही है। यह अन्य भारतीय भाषाओं से भी सिद्ध है। हिंदी, गुजराती, मराठी और सिंधी में इसका अर्थ **मगर** है, बंगला में **मकर** नेपाली में **मकर** और **मगर,** पंजाबी तथा कश्मीरी में **मगरमच्छ** एवं **मगरमत्श**, तेलुगु में **मकरमु** साथ ही **मोसलि** तथा **नक्रमु,** परंतु अन्य द्रविड भाषाओं में **मकर** का प्रतिनिधित्व नहीं है। हिंदी शब्दसागर ने **मगर** का **घड़ियाल** अर्थ अशुद्ध दिया है। पंचतंत्र की मगर-बंदर की कथा तथा जावा के शिलापट्टों पर उत्कीर्ण उसी कथा के दृश्यों से भी मकर का अर्थ **मगर** ही सिद्ध होता है।

प्राकृत-शब्द-रूप **पदोलिका** मृच्छकटिक में अनेक बार आया है। परंतु यह द्रष्टव्य है कि उसका अर्थ सिंहद्वार (गेटवे) करने से भ्रामक अर्थ निकलता है। संस्कृत साहित्य के प्रतोली को विशाल सिंहद्वार कह सकते हैं। गुप्त संवत ९६ के बिलसर स्तंभ लेख में प्रतोली शब्द आया है। फ्लीट ने इसका अर्थ 'गेट वे' किया है।

एक पाद टिप्पणी में फ्लीट ने कहा है – 'जैसा कि जनरल कनिंघम ने संकेत किया है, कोशों के अनुसार प्रतोली का अर्थ है – राजपथ, (ब्राड वे), प्रशस्त पथ (हाइस्ट्रीट), मुख्यपथ (ए प्रिंसिपल स्ट्रीट)।' परंतु 'गेटवे' (सिंहद्वार) अर्थ उसे एक पंडित से मिला।

चाट शब्द का अर्थ मुझे प्रायः सभी कोशों में चीट (ठग) मिला। चाट शब्द ताम्रपत्रों में अनेक बार आया है विशेषतः **ग्राम** शब्द की प्रशस्ति में – **अचाटभट्टप्रवेश**। दानपत्रों का **चाट** निःसंदेह चाड़ है। हाल की अपनी चंबासंबंधी शोधों में मुझे पता चला कि **चाट** (चाड़) का अर्थ परगणाधीश होता है।

संस्कृत साहित्य में **चाट** का अर्थ सिपाही (सोल्जर) होता है। शिलालेखों में यह प्रायः **भट** के साथ संयुक्त है। शिलालेखों में **चाट** का अर्थ 'परगणाधीश' के नीचे का अधिकारी होता है।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्देश

•

अंग्रेजी

बुलेटिन आफ द स्कूल आफ ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज़, युनिवर्सिटी आफ लंदन खंड बीस सर राल्फ टर्नर अभिनंदन अंक १९५७।

सम क्रोनोलाजिकल कैरेक्टरिस्टिक्स आफ राजस्थानी—डब्लू. एस. एलेन। राज॰स्थानी के ध्वनितत्व का विवेचन।

भरतज़ एक्सपेरिमेंट विद द टू वीणाज़—ए० ए० बेक। भरत द्वारा वर्णित दो प्रकार की वीणाएँ।

द सक्सेशन आफ द लाइन आफ कनिष्क—ए० एल० बाशम। कनिष्क के उत्तराधिकारियों के क्रम पर विचार।

अर्ज़ीज एंड द सैक आफ द्वारका : ए सेवेंटीन्थ सेन्चुरी हिंदीवर्शन—जे० बर्टन पेज। नाभादास के भक्तमाल के १४१ वें छप्पय में आए 'अजीज' का विवेचन।

द रानी पोखरी इंस्क्रिप्सन, काठमांडू—टी० डब्लू० क्लार्क। काठमांडू के रानी पोखरी अभिलेख का अध्ययन।

फोनेटिक आब्ज़र्वेशन आन गुजराती—जे० आर० फिर्थ। गुजराती के ध्वनितत्व का पर्यवेक्षण।

द इंटररिलेशंस आफ कास्ट्स एंड एथनिक ग्रूप्स इन नेपाल—क्रिस्ताफ वाँ फ्यूरेरहेमें-डार्फ। नेपाल के अंतर्जातीय संबंधों तथा नृतात्विक वर्गों का अध्ययन।

कान्स्टीट्यूशनल एंड लेजिस्लेटिव डेवलपमेंट इन द इंडियन रिपब्लिक—ए० लेड हिल। भारतीय गणतंत्र में संवैधानिक एवं वैधिक विकास।

आन सम अर्थालंकारज इन द भट्टिकाव्य (दस)—सी० होयकास। भट्टिकाव्य (दशम्) के कुछ अर्थालंकारों पर प्रकाश।

सम मराठी इंस्क्रिप्शंस, ए० डी० १०६०-१३००—अल्फेड मास्टर। १०६०-१३०० ई० के मराठी अभिलेखों पर प्रकाश।

ए नोट आन द डेरिवेशन आफ हिंदी ऊबड़ खाबड़—बाबूराम सक्सेना। हिंदी के 'ऊबड़ खाबड़' की व्युत्पत्ति पर टिप्पणी।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा

•

मैकवेथ

डा० हरिवंशराय 'बच्चन' एक बार बहुत पहले हिंदी पाठकों के संमुख अनुवादक की हैसियत से खैयाम की मधुशाला के साथ आ चुके हैं। लेखक की अनुभूतियों को ठीक ठीक समझ कर चलती हुई बोलचाल की भाषा में व्यक्त कर सकने की क्षमता ही उस अनुवाद की सफलता के लिये उत्तरदायी थी। शेक्सपियर (१५६४–१६१६) नाटककार होने के साथ अभिनेता भी थे। इतना ही नहीं वे प्रथम श्रेणी के कवि थे, अतः उच्च कोटि के द्रष्टा।

अतः अभिनय की दृष्टि से इनके नाटक सफल तो हैं ही, साथ ही उनकी पंक्ति-पंक्ति में कविता समाई हुई है और विशेष बात यह है कि मैकवेथ अन्य त्रासदियों (हैमलेट, आथेलो, लीयर आदि) की ही तरह ही उनकी प्रौढ़ावस्था में लिखा गया।

इस दृष्टि से 'बच्चन' का कथन शत प्रतिशत सच है कि मैकवेथ का अनुवाद करना बहुत कठिन है। इन्हीं कठिनाइयों के कारण कई अनुवाद हिंदी में आए, लेकिन सब अधूरे और असफल। शेक्सपियर की कविता को छोड़ देने से शेक्सपियर का बहुत कुछ छूट जाता है। इसकी रक्षा के लिये डा० बच्चन ने अंग्रेजी साहित्य ही नहीं, संपूर्ण पश्चिमी साहित्य के प्रकाशस्तंभ शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद पद्य में करना शुरू किया है। यह प्रयत्न श्लाघ्य है।

डा० बच्चन ने स्वयं नाटकों पर विचार किया है। वे नाटक की सफलता के लिये आवश्यक बातों से पूरी तरह अवगत हैं और साथ ही प्रसिद्ध अभिनेता श्री बलराज साहनी के सुझाव भी उन्हें मिले हैं। किंतु साधारण पाठक की हैसियत से पढ़ने पर कुछेक स्थल अभिनय की दृष्टि से शिथिल जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखें — "क्या जो कहा पिशाचिनियों ने सच ही होगा?" (पृ० १२), नींद भरी मेरी पलकें भारी भारी हैं" (पृ० ३२), "हाय दगा! बेटे फिलएंस भग"! (पृ० ६५)। 'भारी' शब्द से जो ध्वनि निकलती है उसके लिये 'भारी भारी' कहकर भारीपन जरूरत से ज्यादा बढ़ा दिया गया है और परिणाम है ढीलापन। उसी प्रकार बैंको जब मैकवेथ के भेजे हत्यारों की तलवार का शिकार होने के साथ ही अपने बेटे फिलएंस को भागने के लिये कहता है तो जो तेजी और बेटे को बचाने की उत्कट इच्छा की संवेगात्मक अभिव्यक्ति 'फ्लाइ फ्लाइ फ्लाइ' में है, वह 'भग, जी लेकर भग' में नहीं। उसी प्रकार मैकवेथ का स्वगत "तू दिखलाती है पथ..." से लेकर "आगे मूर्तिमान होता है", तक एकदम दुरुस्त है। यह विदित है कि शेक्सपीयर के नाटकों के स्वगत भाषण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि कवित्व का भंडार होने के साथ ही वे पात्रों के अंतस् का द्वार खोलते हैं। इन स्वगत भाषणों का अनुवाद बहुत हद तक सफल हुआ है, किंतु कहीं कहीं बहुत ही हल्का। उदाहरण के लिये पृष्ठ ११२ पर लेडी मैकवेथ की आने की स्थिति में स्वगत भाषण —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हियर इज द स्मेल आफ ब्लड स्टिल···" का अनुवाद है—"लोहू की बदबू अब भी नहीं गई : अरब का सारा इत्र इस छोटे से हाथ में खुशबू नहीं ला सकता।" यहाँ 'बदबू' शब्द के बदले 'गंध' शब्द ही काफी था। यद्यपि बाद में 'खुशबू' शब्द आया है, 'बदबू' की 'बदबू' पूरे कथन में समाई ही रह गई है।

जहाँ कुछ शब्दों का बड़ा ही उचित प्रयोग हुआ है वहाँ कई शब्दों का प्रयोग आपत्तिजनक है। 'फिल्दी हैग्स के लिये' 'गंदखानियों', 'फ्राड्टी पर्पजेज के लिये' 'चट्टल इरादों' (पृष्ठ ६०), 'इंपरफेक्ट स्पीकर्स' के लिये अटपट वक्ताओं (पृष्ठ १०) 'आर यी फैंटास्टिकल' के लिये 'तुम छलना हो ?' (पृ० ६) 'अलास द डे' के लिये 'दिन जल जाए।' आदि के हिंदी समकक्ष बहुत ही अच्छे बन पड़े हैं। किंतु पृष्ठ ८७ पर चौथी पंक्ति 'जब तलक बर्नम वैठा' में 'तलक' के बदले 'तक' ही काफी था।

डा० बच्चन ने भूमिका में स्पष्ट ही लिखा है कि वे शेक्सपीयर की कृतियों के अनुवाद प्रस्तुत करते समय चार बातों को प्रमुखता देंगे—१. अनुवाद छायानुवाद न होकर अविकल हो, २. शेक्सपीयर के कवित्व की रक्षा की जाय, ३. नाटक सामान्य शिक्षितदीक्षित जनता के सामने खेला जा सके, और ४. चरम लक्ष्य यह हो कि अनुवाद अनुवाद न मालूम हो। मैं समझता हूँ हिंदी में जितनी दूर तक अंग्रेजी कविता ठीक ठीक अभिव्यक्ति पा सकती है, उतनी अवश्य ही डा० बच्चन के हाथों पा सकी है। यदि हिंदी जनता की रुचि थोड़ी परिस्कृत हो जाय तो यह पद्यबद्ध अनुवाद चलती सीधी भाषा में होने के कारण खेला भी जा सकता है। किंतु एकाध-स्थान पर दुरूहता आ गई है। प्रयोग सही होकर भी, "कर न हमें जब डर हमको गद्दार बनाता" (पृ० ६१) में 'कर' अपने अर्थ 'कृतित्व' या 'हाथ' में न उभरकर पूर्वकालिक क्रिया के रूप में ही आता है। उसी प्रकार 'चट्टल इरादा, जब तक उसके साथ न करनी भी जाए, गुल दे जाता' (पृ० ६०) में यदि 'करनी' के बाद 'की' जोड़ दिया जाता तो अर्थ में स्पष्टता आ जाती।

अंत में मैं डा० बच्चन के दिमाग से अनुवाद करते समय कुछेक फिसल गई बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, वह भी इसलिये कि अनुवाद अविकल है। कुछ उदाहरण लीजिए —

१. ऐज टू स्पेंट स्विमर्स दैट डू क्लिंग टु गैदर ऐंड **चोक देयर आर्ट**

यहाँ मोटे अक्षरों का अर्थ है कि तैराकों के एक दूसरे से गुंथने के कारण उनकी **कला का गला घुँट जाता है**। वे आगे बढ़कर अपनी निखरी कला का रूप नहीं दिखा पाते। अतएव आर्ट का किस प्रकार 'करवस' लिया गया, यह जानने लायक बात है। जब दो तैराक आपस में गुथे हैं, और थक गए हैं, तो एक दूसरे के 'कर-वस' को कुंठित तो करेंगे ही, किंतु शेक्सपीयर का कथ्य इससे ज्यादा है।

२. नो सूनर जस्टिस हैड विद वैलर
आर्म्ड कंपेल्ड दीज स्किपिंग कर्न्स टु ट्रस्ट देयर हील्स

इसमें स्पष्ट है कि जस्टिस (न्याय) ने वैलर (शक्ति) की तलवार धारण की थी और न कि 'बल' ने न्याय की। किंतु अनुवाद देखिए—

'ज्योंही बल ने धारण कर तलवार न्याय की।' (पृ० ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. फ्राम लाइफ़, ग्रेट किंग,
हे यर द नारवेज्यन बैनर्स फ़्लाउट द स्काई
एंड फ़ैन आवर पीपुल कोल्ड······

इस अंश का अर्थ बताते हुए केनेथ म्यूर ने 'मैकबेथ' के अपने १९५१ के संस्करण में लिखा है कि 'इन पंक्तियों का अर्थ यह होना चाहिए कि नार्वे के झंडे, स्काट लोगों को डर से ठंडा बना देते हैं और न कि, जैसा कि मैलोन ने समझा था, पराजित झंडे विजयी वर्ग को हवा देकर ठंडक पहुँचाते हैं।' अनुवाद है—

"जहाँ ताखी झंडे
आसमान में पंखे से लहरा लहराकर
थके हमारे दल को ठंडक पहुँचाते हैं। (पृ० ५)

४. देयर इज़ नो आर्ट
टु फाइंड द माइंड्स कंस्ट्रक्शन इन द फेस

अंग्रेजी में फेस का अर्थ 'चेहरा' होता है, मुँह नहीं। अतः यदि अनुवाद किया जाय तो 'माइंड' के लिये मन और 'फेस' के लिये चेहरा समीचीन न होगा—

कोई विद्या नहीं कि जिससे कोई जाने
मुँह से मन की (पृष्ठ १६)

किंतु यदि यह तर्क दिया जाय कि 'मुँह' से 'मन की' स्वयं में ठीक है क्योंकि किसी के मन की बात उसके मुँह से अर्थात् उसके कथन मात्र से नहीं जानी जा सकती, तो आपत्ति की बात यह है कि माइंड्स कंस्ट्रक्शन (मस्तिष्क की बनावट) चेहरे पर ही देखी जाने की बात हो सकती है, मुँह से निकलने वाले शब्दों में नहीं।

५. इफ़ ही हैड बीन फारगाटेन
इट हैड बीन गैप इन अवर ग्रेट फ़ीस्ट
एंड आलथिंग अनबिकमिंग

लेडीमैकबेथ अपने पति से राज्यारोहण समारोह में आनेवाले अतिथियों के आगमन पर विचार कर रही थी, इस समय उन्हें ऐसा लगा कि बैंको का आना अत्यंत आवश्यक था। यदि वे नहीं आते तो सारी रौनक ही अधूरी पड़ जायगी। अनुवाद है—

अगर हमारे
राजभोज में ये रह जाते तो निश्चय ही
बड़ी कमी उसमें रह जाती, और अशोभन
सब कुछ लगता।

यहाँ 'रह जाते' का अर्थ ठीक है; किंतु वह अर्थ स्पष्ट नहीं होता। ऐसा लगता है 'रह जाते' का अर्थ 'रह जाने' से है अर्थात् बैंको उस दिन जहाँ जा रहे थे, वहाँ न जाते, बल्कि समारोह में शामिल होने के लिये रह जाते।

इस छोटी समीक्षा में इस अनुवाद के अच्छे अंशों का पूर्ण विवेचन असंभव है। स्वगत भाषणों के ही अनुवाद में फिसलने को विशेष संभावना होती है; लेकिन प्रसन्नता की बात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि इन अंशों का भी अनुवाद बहुत ही अच्छा हुआ है। उदाहरण के लिये ये पंक्तियाँ देखें—रास के कथन पृष्ठ ५ एवं १०४; मैकबेथ के स्वगत पृष्ठ १३, ३८, ४०, ५५ - ५६, तथा १२३; लेडी मैकबेथ के वचन १०३, पृष्ठ ११३ (बुरी तरह की ''' बता देते हैं) इसके अतिरिक्त चारों ही दृश्यों में डाइनों की वार्ता का अनुवाद बड़ा ही सुंदर हुआ है। चौथे अंक का तीसरा दृश्य पूरा ही सफल है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यह अनुवाद प्रथम पद्यबद्ध अनुवाद होकर भी सफल है। हमें आशा है डा० बच्चन अपनी प्रतिभा का फल अवश्य देंगे। उनकी इस इच्छा का कि ये शेक्सपीयर के अनूदित नाटक – अभिनीत हों, और तब उनकी भाषा में अभिनय की दृष्टि से काट - छाँट की जाय, हम स्वागत करते हैं। हर कोने से सुझाव माँगकर डा० बच्चन ने जो उदारता दिखाई है, वह परिश्रम की सफलता की अभिलाषा का ही परिणाम है।*

—रामसेवक सिंह

वंदे वाणीविनायकौ

देखा परखा

निबंधसंकलनों की समीक्षा प्रायः कठिन सिद्ध होती है। विभिन्न विषयों पर विभिन्न समयों में लिखे गए साहित्यसंबंधी निबंधों में से लेखक के मूलभूत विचारों को पकड़ना तथा उनकी संगतिअसंगति का विवेचन करना काफी परिश्रमसाध्य कार्य है। कभी कभी किसी विचारगत सामंजस्य के अभाव में समीक्षक की कठिनाई और भी बढ़ जाती है। विवेच्य संकलन हिंदी के दो प्रतिष्ठित लेखकों के मुख्यतः साहित्यसंबंधी विचारों को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अतः कई दृष्टियों से उनका विशेष महत्व है, इसलिये और भी क्योंकि दोनों में से कोई भी मुख्य रूप से हिंदीआलोचना से संबद्ध नहीं है। एक का प्रधान कार्यक्षेत्र उपन्यास है और दूसरे का स्केच-संस्मरण।

श्री रामावृक्ष बेनीपुरी की ख्याति प्रमुखतः उनकी गद्यशैली के लिये है, जो विशेष रूप से संस्मरणसाहित्य के लिये उपयुक्त है। ओज तथा उत्साहपूर्ण शब्दों के माध्यम से भावातिरेक की अभिव्यक्ति उनकी शैली का मूल सूत्र है। पर इसके संबंध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शब्दों में अपने आप में कोई शक्ति नहीं होती। इसीलिये स्थान स्थान पर बार बार आवृत्ति के कारण बहुत से शब्द अर्थहीन लगने लगते हैं। 'वाणी विनायकौ' शीर्षक निबंध जो शब्द और अक्षर के महत्व को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से लिखा गया है, स्वतः इस त्रुटि से रहित नहीं है। निबंध का प्रारंभिक अंश है—

* मैकबेथ (पद्यानुवाद)—अनुवादक डा० 'बच्चन'। प्रकाशक राजपाल एंड संस, दिल्ली, मूल्य ३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आज वाणी ने विनायकत्व, नेतृत्व खो दिया है और आज के विनायक ने वाणी का तिरस्कार, बहिष्कार करना प्रारंभ किया है!

आज वाणी विनायक की सहचरी नहीं, अधिक से अधिक अनुचरी है। विनायक की आज्ञा पर वह नाच रही है, गा रही है, वीणा बजा रही है।" गद्य की यह आवृत्तिमूलक शैली वक्तृता के अधिक योग्य है। निबंध और वह भी साहित्यिक निबंध अधिक गंभीर तथा समासशैली की अपेक्षा रखते हैं। बेनीपुरी जी के संस्मरणों में जो अनौपचारिकता सुखद लगती है वही उनके चिंतनप्रसंगों में विषय की मर्यादा के अनुरूप सिद्ध नहीं हो पाती।

बात को हल्के फुल्के ढंग से कहने के साथ ही साथ लेखक की दूसरी प्रवृत्ति है उद्बोधन की। धर्मनिरपेक्षता की ओर प्रवृत्त समाज में उपदेशात्मकता का स्थान उद्बोधनवृत्ति ले लेती है। राजनैतिकों द्वारा इस प्रवृत्ति का अवलंबन उचित है, क्योंकि उनके पास नया कहने को कम होता है पर साहित्यकार तो स्रष्टा है। वह सदैव ही कुछ नया तथा महत्वपूर्ण कहेगा। अतः उसे व्यासपीठ की तनिक भी अपेक्षा नहीं। "साहित्यिकता तथा साधुता" और "नव निर्माण और साहित्य स्रष्टा" शीर्षक निबंधों के उद्बोधनात्मक अंतिम अंश स्कूली पाठ्यपुस्तकों में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, अपेक्षाकृत साहित्यिक संकलनों में लेखक से मौलिकता तथा चिंतन की मांग की जाती है, उपदेशों की नहीं। "नव निर्माण और साहित्य-स्रष्टा" शीर्षक निबंध का अंत होता है—"अमरता हमारी बपौती है—हम उस पीढ़ी के हैं, जिसने अक्षर को अपनाकर इस क्षर - क्षयमान संसार पर अपनी एक अमिट लकीर खींच रखी है। फिर कैसी यह क्लीवता-क्यों आँखों में ये आँसू, क्यों शरीर में यह कंपकंपी! अरे, नैतत्व-य्युपद्यते। यह तुम्हारे योग्य नहीं! उठो परंतपो, अपने शास्त्रों को सम्हालो। नया महाभारत नई गीता खोज रहा है। नवनिर्माण नया सपना मांग रहा है उसे दो, दो।" यहाँ यह बिलकुल समझ में नहीं आता कि कृष्ण का उद्बोधन का आधा दायित्व स्वयं स्वीकार करके फिर यह गीतानिर्माण का आधा दायित्व लेखक किसे दे रहा है और क्यों? आखिर गीता लिखना, या उससे भी उपयुक्त, गीता बोलना भी तो काफी स्पृहणीय तथा संमाननीय कार्य है! निबंधकार ने एक स्थल पर सचाई को हथौड़े और सलाख से दिमाग में ठोकने की बात कही है। पर यह बात तो बिना ही हथौड़े और सलाख की सहायता लिये कही जा सकती है कि सचाई यदि वस्तुतः सचाई ही है तो उसे लोगों तक पहुँचाने के लिये न तो लुहार बनने की आवश्यकता है और न उद्बोधक बनने की। इसके अतिरिक्त प्रजातंत्र के देश तथा युग में ये दोनों ही तरीके अनुचित तथा अकालिक भी हैं।

बिना किसी स्पष्ट आलंबन की स्थिति के यह उद्बोधन की प्रवृत्ति और भी अयथार्थ लगती है। 'आगे बढ़ो', 'प्रगति करो', 'उन्नति के पथ पर अग्रसर हो' आदि बातें तो बहुत अच्छी हैं, पर यह उन्नति किस प्रकार हो और प्रगति का पथ कौन सा है यह भी तो बताया जाना चाहिए। वस्तुतः पंचवर्षीय योजनाओं के युग में मात्र प्रयाणगीतों के गाने से कुछ भी बात नहीं बन सकती। रूपकशैली तथा उद्बोधन दोनों ही मध्ययुगीन प्रवृत्तियां हैं जब कि आज की समग्र जीवनपद्धति तर्क पर आधारित है। पर बेनीपुरी जी के ये निबंध इस तथ्य की पुष्टि नहीं करते जान पड़ते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत संकलन के कई निबंध बड़े अच्छे ढंग से प्रारंभ होने पर भी आगे चलने पर लेखक की वक्तृता शैली के प्रयोग के कारण फीके पड़ गए हैं। "कविता का सम्मान" शीर्षक निबंध एक महत्वपूर्ण तथ्य को बड़े आकर्षक तथा प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है। किंतु फिर निबंध का उत्तरार्द्ध अनावश्यक रूप से विस्तृत हो गया है, जिसमें लेखक ने नाना प्रकार के उपदेश बिना किसी न्याय के दिए हैं। निबंध का अंत होता है—"कवि, प्यारे कवि, मेरे कवि ! अपने को पहचान ! पहचान !" मैनरिज्म की यह मार्मिकता जितनी मिथ्या है उतनी ही अनावश्यक भी है। बहुत कम निबंध ऐसे हैं जो इस सतही मार्मिकता से रहित हैं। कुल मिलाकर "साहित्यिकों की स्मृतिरक्षा" तथा "साहित्यकला और मध्यम वर्ग" शीर्षक निबंध अपेक्षाकृत सुगठित है तथा महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। पहला निबंध सचमुच लेखक की अंतरात्मा से प्रेरित है, और इसीलिये बिना किसी शैलीचमत्कार के भी प्रभावपूर्ण है।

श्री इलाचंद्र जोशी का साहित्य चिंतन कई दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्व रखता है। वे उन विरल समीक्षकों में से हैं जिन्होंने भारतीय तथा यूरोपीय साहित्य का गंभीर तथा सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया है। इस प्रदेश के यूरोपीय वाङ्मय के अध्येताओं में तो वे अग्रणी रहे हैं। हिंदी साहित्य को संवेदनात्मक विस्तार देने में उनका योग अप्रतिम है। ग्रीक तथा संस्कृत महाकाव्यों से लेकर सार्त्र के अस्तित्ववादी चिंतन तथा अरविंद के साहित्य-दर्शन तक उनका ज्ञान गहरा तथा रचनात्मक रहा है। आधुनिक साहित्य के आंदोलनों की पृष्ठभूमि में जोशी जी का व्यापक अध्ययन एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी।

"देखा परखा" जोशी जी के ग्यारह साहित्यक निबंधों का संकलन है। इनमें से कुछ सैद्धांतिक समीक्षा के अंतर्गत आएँगे और कुछ व्यावहारिक समीक्षा के, वैसे व्यावहारिक समीक्षा लेखक का प्रियतर क्षेत्र है। और उसमें भी साहित्यसृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विश्लेषण उसे विशेष रूप से आकर्षित करता रहा है। विवेच्य संकलन में "मनोवैज्ञानिक विश्लेषण" तथा "साहित्य में वैयक्तिक कुंठा" शीर्षक निबंध विश्वसाहित्य के संदर्भ में मानव-मन के गूढ़ तत्वों की विवेचना प्रस्तुत करते हैं। मनोविज्ञान का शास्त्रीय विश्लेषण प्रायः नीरस तथा जटिल हो जाता है। यदि साहित्य के प्रसंग में देखा जाए तो जान पड़ेगा कि जितना आसान यह कह देना है कि साहित्य मूलतः मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का अन्वेषण तथा पुनरान्वेषण है, उतना ही कठिन यह बताना है कि वे मनोवैज्ञानिक प्रकियाएँ कौन सी हैं और साहित्य में उनका किस प्रकार चित्रण होता है। इस दृष्टि से आधुनिक साहित्य में रचनात्मक प्रक्रिया को समझाने की जो पद्धतियाँ प्रचलित हैं, उनका पूर्वरूप जोशी जी के इन मनोवैज्ञानिक विवेचनों में देखा जा सकता है। मानवीय कुंठाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति का सहानुभूतिपूर्ण विश्लेषण लेखक ने किया है। उसका स्पष्ट मत है कि "व्यक्ति की कुंठा अपने आप में उतनी खतरनाक नहीं जितनी उसकी यह आत्मघाती प्रतिक्रिया। कुंठा को यदि ठीक से समझा और परखा जाय तो उसे जीवन के स्वस्थ विकास के लिये एक उपयोगी अस्त्र के रूप में काम में लाया जा सकता है। संसार के सभी महान और स्वस्थ साहित्यकारों ने सभी युगों में उसे इसी कल्याणकारी अस्त्र के रूप में अपनाया है।" संस्कारों और रूढ़ियों से बँधा हुआ लेखक इतनी निरुज दृष्टि नहीं रख पाता। परंपरा से हेय मानी जानेवाली मानसिक कुंठाओं के प्रति यह वैज्ञानिक और संतुलित दृष्टिकोण जोशी जी की अपनी विशेषता रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने समय के विद्रोही लेखक होने के कारण जोशी जी में वह अंतर्दृष्टि है जो किसी भी नवीन उन्मेष को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखकर उसे आवश्यक सहानुभूति तथा समीक्षा दे सकती है। और जोशी जी के साहित्यिक व्यक्तित्व से यह तथ्य और भी पुष्ट होता है कि पुराने का वास्तविक महत्व वही समझ सकता है, जो नवनिर्माण की प्रेरणा को पहिचान कर उसे सहानुभूति दे सके। कालिदास का कथन "पुराणमित्येव न साधु सर्वं ··· ···" जितना कहने - सुनने में आसान लगता है उतना मानने में नहीं है। पर जोशी जी ने उसे वास्तविक अर्थ में "देखा परखा" है और इसीलिये साहित्य - चिंतन के अधुनातन विकास के संदर्भ में भी उनकी समीक्षा-शैली पुरानी नहीं पड़ी है। छायावाद से लेकर नई कविता तक के स्रोतों को उन्होंने सहृदय परंतु निष्पक्ष ढंग से देखा है, और साथ ही छायावाद के तत्वावधान में लिखी गई अपनी "विजनवती" की कविताओं की वे कड़ी समीक्षा भी कर चुके हैं। यद्यपि विवेच्य संकलन के "छायावादी छाया और प्रकाश" में उन्होंने इन कविताओं की भावभूमि को ही समझाने का अधिक यत्न किया है, जिससे उनके कवि की रचनात्मक प्रक्रिया को समझने में तो सहायता मिलती ही है साथ ही उनके प्रकाश में समस्त छायावादी उन्मेष को अधिक अच्छे ढंग से देखा जा सकता है। निबंध के पूर्वार्द्ध में लेखक ने जिस प्रकार छायावादी काव्य पर सामान्यतः लगाए जाने वाले "अस्पष्टता, उसके रूपकमय रूप, विषाद, रस आदि" से संबद्ध आरोपों का खंडन किया है, उसे देखकर आज के नई कविता के व्याख्याता की कठिनाई और अवशता का बरबस स्मरण हो आता है। लगता है कि जोशी जी यदि नए साहित्य के बारे में भी कुछ लिखते तो संभवतः बहुत सी प्रचलित भ्रांतियों का आसानी से निराकरण हो सकता।

व्यक्तिगत लेखकों से संबद्ध जोशीजी के दो निबंध इस संकलन में संकलित हैं, एक है पंत और दूसरे रहीम। दो सर्वथा विभिन्न युगों के प्रतिनिधि होने पर भी लेखक द्वारा प्रस्तुत उनका विश्लेषण अत्यंत स्पष्ट तथा यथार्थ है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है उनकी रसग्राहिता जो आज की समीक्षा शैली में कदाचित् विरल होती जा रही है। इस दृष्टि से कलाकार की मौलिक प्राणशक्ति को पकड़ पाने की जोशीजी की शक्ति स्पृहणीय है। वैसे तो पंतजी के काव्य का विस्तृत अध्ययन लेखक ने अपने कई लंबे निबंधों तथा निबंधमालाओं में किया है, परंतु प्रस्तुत संकलन में संगृहीत उसका निबंध 'पंत की कविता में त्रिविध चेतना' एक अपेक्षाकृत सीमित तथा जटिल विषय का अत्यंत स्पष्ट अध्ययन प्रस्तुत करता है।

जोशीजी के कुछ प्रिय लेखक तथा कृतियाँ हैं, जैसे रवींद्रनाथ, कालिदास, गेटे, बाण, शरच्चंद्र, 'हैमलेट', 'महाभारत', 'मृच्छकटिक' आदि। उनके विस्तृत अध्ययन के कारण यह सूची पूरी की जाने पर निश्चय ही काफी बड़ी होगी। पर उनके समीक्षात्मक निबंधों में इन लेखकों तथा कृतियों में से जो अंश बारबार देखने को मिलते हैं, उनसे इन अंशों के प्रति लेखक का मोह तो व्यक्त होता ही है, साथ ही उनकी चयनसंबंधी असावधानी भी व्यक्त होती है। रवींद्रनाथ के 'एकला चलो' या 'उर्वशी' तथा टेनीसन के 'टियर्स आइडल टियर्स' अथवा कालिदास का पूर्वजन्म के स्नेह संबंधों को स्मरण दिलाने वाला श्लोक लेखक के प्रिय उद्धरण हैं, जिन्हें उसके समीक्षात्मक निबंधों का अध्येता स्थान स्थान पर देख सकता है। यदि लेखक के ये सभी निबंध किसी समय एक ही जिल्द में प्रकाशित किए जा सकें तो उसे इन्हें आवश्यक रूप से संपादित और क्रमबद्ध करने का अवसर तो मिल ही सकेगा साथ ही पाठक को एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा ग्रंथ प्राप्त हो सकेगा जो एक ओर तो विश्वसाहित्य की मूलभूत संवेदना प्रस्तुत करेगा और दूसरी ओर समीक्षा के श्रेष्ठतम मानदंडों का परिचय भी करा सकेगा।*

—रामस्वरूप चतुर्वेदी

भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखायें

इस ग्रंथ में श्री परशुराम चतुर्वेदी के १७ निबंध संगृहीत हैं। ये सभी निबंध सामान्यतः भारतीय साहित्य और विशेषरूप में हिंदी साहित्य के सांस्कृतिक पक्षों से संबंधित हैं। अतः इस ग्रंथ का नाम 'भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखायें' बिलकुल ठीक है। वस्तुतः किसी युग के साहित्य का अथवा किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति का अध्ययन उसकी सांस्कृतिक पीठिका के अध्ययन के बिना अधूरा ही रहता है। हिंदी साहित्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल का सदा आभारी रहेगा क्योंकि उन्होंने ही साहित्य के सांस्कृतिक परिवेश और परंपरागत पीठिका के अध्ययन का प्रारंभ किया। शुक्ल जी के बाद इस अध्ययन के क्रम को आगे बढ़ानेवालों में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और श्री परशुराम चतुर्वेदी अग्रणी हैं। इन दोनों विद्वानों ने पूर्व-मध्यकालीन हिंदी साहित्य की सांस्कृतिक पटभूमि का जो गहन और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया है उससे न केवल प्राचीन साहित्य के अध्येताओं के ज्ञानक्षेत्र का विस्तार हुआ है बल्कि उनके दृष्टिकोण में भी उदारता और गंभीरता आई है। प्रस्तुत ग्रंथ के निबंध भी इसी अध्ययन की दिशा में आगे बढ़े हुए कदम हैं।

किंतु इन निबंधों का लक्ष्य केवल मध्यकालीन साहित्य पर प्रकाश डालना ही नहीं है। लेखक प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन इसलिये भी करना चाहता है कि हमारे वर्तमान जीवनमूल्यों का निर्माण-विकास उचित ढंग से तथा सही दिशा में हो सके। वह यह दिखाना चाहता है कि हमारी वर्तमान राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में प्रांतीयता, जातीयता, धर्म, भाषा और राजनीति - संबंधी भेदोपभेदों के कारण जो भयंकर अवरोध उत्पन्न हो गए हैं, उन्हें दूर करने के लिये हम अपनी मध्यकालीन सांस्कृतिक परंपरा से क्या सीख सकते हैं ? यही नहीं, भौतिक उन्नति की होड़ तथा गर्म और शीत युद्धों के इस अनिश्चित युग में भारतीय संस्कृति का कितना अंश विश्वमानव के लिये उपयोगी हो सकता है और भारतीय राष्ट्र को अपने परंपरागत मूल्यों में कितना परिवर्तन करने की आवश्यकता है, इन प्रश्नों को लेखक ने ग्रंथ की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है, "आज सभी को इस बात का भान होने लगा है कि पृथक् पृथक् आदर्शों को अब हम कदाचित ठीक उनके पूर्वरूपों में ही नहीं रख सकते। प्रत्येक बात जो कभी किसी जाति या समाज विशेष के मानदंडानुसार परख ली जाती थी, अब किसी सार्वभौम तुला पर भी चढ़ने जा रही है। हमें इस प्रकार देखने का

* वंदे वाणीविनायकौ—लेखक, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशक – आत्माराम एंड संस दिल्ली, मूल्य ३ रु०।

देखा परखा—लेखक—श्री इलाचंद्र जोशी, प्रकाशक – राजपाल एंड संस, दिल्ली, मूल्य २.५० रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रमशः एक अभ्यास पड़ता जा रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमें कभी अपनी निधि के अमूल्य रत्नों को भी एक बार फिर से परखना होगा। हमें अपने चिर परिश्रम द्वारा अर्जित उपयोगी संबल को भी कम कर देना पड़ेगा और आगे के लिये केवल उसी को अपनाना होगा जो उसके अनुकूल हो।" इस तरह लेखक का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। वह धार्मिक रूढ़ियों तथा व्यक्तिवादी रहस्यानुभूति में विश्वास करनेवाला नहीं है। इसके विपरीत उसकी दृष्टि वैज्ञानिक और सामाजिक है और वह मानवतावादी विचारधारा में विश्वास करता है। प्रस्तुत ग्रंथ के निबंधों में उसके उपर्युक्त दृष्टिकोण और विचारधारा की अभिव्यक्ति स्थान स्थान पर हुई है।

यद्यपि इन निबंधों में शोधसंबंधी कोई भी नई बात नहीं है क्योंकि इनमें अन्यान्य शोधकर्ताओं की इतिहास, साहित्य और धर्मसंबंधी खोजों को आवश्यकतानुसार एकसाथ एकत्र कर दिया गया है और इससे ऐसे लोगों को निराशा हो सकती है जो नवीन साहित्यिक या सांस्कृतिक सामग्री की आशा से उन्हें पढ़ेंगे; फिर भी इन निबंधों का बहुत अधिक महत्व है। वह महत्व लेखक के दृष्टिकोण और निष्कर्षों के कारण है। उदाहरण के लिये पहले ही निबंध "भारतीय साहित्य में भक्तिधारा" में विभिन्न भाषा भाषी प्रदेशों में भक्ति साहित्य का अन्योन्याश्रित विकासक्रम दिखाकर लेखक ने सभी भारतीय भाषाओं की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता का प्रतिपादन किया है। कितना अच्छा होता यदि इसी ढंग से समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य का इतिहास कुछ खंडों में विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर लिखा जाता जैसे प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास वेबर, मैकडानल, कीथ विंटरनित्स और दासगुप्त आदि ने लिखे हैं। आज की बढ़ती हुई प्रांतीयता और भाषाद्वेष के विषाक्त वातावरण में समूचे राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता का उद्घाटन करनेवाले ऐसे कार्य का अत्यधिक महत्व होगा और विभिन्न भाषाभाषियों की सांस्कृतिक संकीर्णता दूर होगी।

मध्यकालीन साहित्य का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने वालों को यह बात अच्छी तरह मालूम है कि वैष्णवमत, सूफीमत अद्वैतवाद, योगमार्ग, और बौद्ध सहजयान की विचार-धाराओं और साधनापद्धतियों ने एक दूसरे से प्रभावित होकर पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक ऐसा रूप ग्रहण कर लिया कि उनके अलग अलग विभाजित और असंबद्ध खाने नहीं रह गए। इस तरह पूर्व-मध्यकाल में विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों और मतमतांतरों का अद्भुत समन्वय दिखाई पड़ता है जो तत्कालीन साहित्य में स्पष्टतः प्रतिबिंबित होता है। यही नहीं, तत्कालीन भारतीय संस्कृति सामान्य लोक से भी अत्यधिक प्रभावित है। इस ग्रंथ के प्रारंभ के चौदह निबंधों में लेखक ने इस तथ्य पर प्रकाश डालने का सफल प्रयास किया है। 'भारतीय सूफियों का सांस्कृतिक योग' शीर्षक निबंध में मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के इस लोकसंपृक्त और समन्वयात्मक स्वरूप को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। और साथ ही हिंदू तथा इस्लामी संस्कृति के पारस्परिक आदान-प्रदान के रूप का प्रमाणों द्वारा प्रति-पादन किया गया है। वर्तमान भारतीय संस्कृति के संश्लिष्ट स्वरूप को समझने के लिये मध्यकाकीन सांस्कृतिक परंपरा के इस पक्ष का अध्ययन कितना आवश्यक है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। अपनी चिराचरित धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त होकर सार्वभौम मानवतावादी जीवन-दृष्टि अपनाने के लिये हमें पाश्चात्य संस्कृति का मुँह ताकने की आवश्य-कता नहीं है, उनसे मुक्ति पाने का मंत्र हमें अपनी मध्यकालीन सांस्कृतिक परंपरा में ही मिल सकता है, इस बात को 'भारतीय संतों का सांस्कृतिक योग' शीर्षक निबंध में बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। संभवतः यह लेखक की बिलकुल मौलिक स्थापना है कि "उनकी (मुसल-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानों की) एकेश्वरवादी भावना सामाजिक भेद-भाव - विहीनता तथा धार्मिक समानताओं के वैशिष्ट्य ने यहाँ की दलित, परिगणित एवं पिछड़ी हुई जातियों में एक नवीन आशा का संचार कर दिया जिससे उनमें नव जागरण एवं स्वावलंबन का भाव उठने लगा और इसकी प्रतिक्रिया में यहाँ के उच्चवर्गीय लोगों को भी अपने नियंत्रण के नियम बहुत कुछ ढीले करने पड़ गए। फलतः भारतीय समाज की सामूहिक मनोवृत्ति क्रमशः लोकोन्मुख होती गई। तदनुसार यहाँ धार्मिक क्षेत्र में भक्ति - साधना का आंदोलन चला और साहित्यरचना के क्षेत्र में भी लोकभाषाओं का व्यवहार अधिक वेग के साथ होने लगा और उसमें निम्न वर्ग तक के लोग भी स्वभावतः सहयोग प्रदान करने लगे।" भक्ति - आंदोलन के संबंध में एक ओर तो आचार्य शुक्ल का मत है कि हिंदू राजाओं के पराजय के कारण सामान्य जनता की आस्था राजाओं से हटकर ईश्वर की ओर उन्मुख हो गई; दूसरी ओर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि भक्ति और ज्ञान मार्गों का प्रारंभ दसवीं शताब्दी के पूर्व ही हो गया था और यदि मुसलमान आक्रमणकारी यहाँ न आए होते तो भी भक्ति और संतमार्गों का विकास और प्रसार हो कर ही रहता। इस प्रश्न पर श्री परशुराम चतुर्वेदी ने यह तीसरा मत व्यक्त किया है जो अधिक वैज्ञानिक और साधार है। यदि चतुर्वेदी जी ने अपने मत को और तर्क और विश्लेषण के साथ व्यक्त किया होता तो वह और भी अधिक प्रामाणिक तथा विश्वसनीय होता। वैसे समाजशास्त्रीय और आर्थिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर भक्ति और संतआंदोलनों के प्रसार के अन्य कारण भी दिखाई पड़ते हैं, पर उन्हें यहाँ लिखना अप्रासंगिक होगा।

इस संग्रह के सर्वोत्कृष्ट निबंध दो हैं, 'संतों का निर्वैर धर्म' और 'गोस्वामी तुलसीदास : पुनर्मूल्यांकन'। इनमें से पहले निबंध में लेखक ने आधुनिक विज्ञान, विशेष रूप से डारविन के विकासवाद और जीवन-संग्राम के सिद्धांतों से उत्पन्न राष्ट्रों की पारस्परिक होड़ और भयानक युद्धों को दृष्टि-बिंदु में रखकर भारतीय संतों की सांस्कृतिक देन पर विचार किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि संतों का समदृष्टिमूलक निर्वैर भाव विश्व - कल्याण का एक मात्र साधन है। वर्तमान युग के महान वैज्ञानिक एवं विचारक आल्डस हक्सले और हाल्डेन जैसे व्यक्ति भी आज विज्ञान के आधार पर भूतमात्र की एकता और प्राणिमात्र के बीच परस्पर निर्वैरभाव की स्थिति को मान्य ठहराते हैं। अतः विश्वशांति के लिये हमारे नेताओं को पंचशील के साथ भारतीय संतों के इस निर्वैरभाव के सिद्धांत को भी विश्व के संमुख परीक्षण के लिए रखना चाहिए। दूसरे निबंध 'गोस्वामी तुलसीदासः पुनर्मूल्यांकन' में चतुर्वेदी जी ने तुलसी की महानता के मूल कारण पर विचार किया है और बताया है तुलसी केवल भक्त, कवि, या सुधारक होने मात्र से ही महान नहीं हैं, क्योंकि भक्ति, काव्य-संपदा या सुधारवाद महानता के शाश्वत लक्षण नहीं हैं। अतः तुलसी के मानवतावादी जीवन-दर्शन को ही लेखक ने उनकी महानता का मुख्य कारण माना है क्योंकि यह मानदंड प्रत्येक युग को मान्य होगा। लेखक के इस निष्कर्ष से शायद बहुत कम लोगों को मतभेद होगा। इस संग्रह के अन्य निबंध व्यापक क्षेत्र घेरते हुए भी सामान्य रूप से ज्ञानवर्धक और सूचनात्मक मूल्य के ही हैं।*

—संभुनाथ सिंह

* भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखायें—लेखक—परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या २३४, मूल्य पौने चार रुपए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिवपूजन रचनावली

पुरानी पीढ़ी के लेखकों में श्री शिवपूजन सहाय अपनी आदर्श निष्ठा, निश्छल नम्रता, सतर्क और रचनात्मक संपादनयोग्यता तथा बहुविध गद्य - लेखन - क्षमता के लिये संमान्य हैं। ये उन साहित्यकारों में हैं जिनका कर्तृत्व उनकी प्रकाशित कृतियों के अतिरिक्त अनेक अनगढ़ प्रतिभाओं को सुसज्ज करने और नए लेखकों को प्रेरणा देकर उनमें नई स्फूर्ति का संचार करने में भी निहित है। साहित्य के इतिहास से परिचितों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य के उन्नयन की दृष्टि से यह दूसरा कार्य किसी प्रकार कम महत्व का नहीं। अपनी साहित्यसेवा के दीर्घ काल में सहाय जी ने अनेक रंग ढंग की सरस और गंभीर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद द्वारा ऐसे विधायक साहित्यकार की समस्त कृतियों का 'शिवपूजन रचनावली' के रूप में सुरुचिपूर्ण प्रकाशन अभिनंदनीय है।

रचनावली के दूसरे भाग में 'भीष्म', 'अर्जुन', 'ग्रामसुधार', 'दो घड़ी', 'माँ के सपूत', 'अन्नपूर्णा के मंदिर में' 'महिलामहत्व', 'बालोद्यान' और 'आदर्शपरिचय' नामक पुस्तकों के अतिरिक्त लेखक के ग्यारह भाषण संगृहीत हैं। इस प्रकार इसमें कुछ जीवनियाँ हैं, कुछ ग्राम-समस्याओं से संबद्ध लेख हैं, कुछ महिलाओं और बच्चों के लिये लिखित शिक्षोपयोगी लेख हैं, कुछ हास्यपूर्ण निबंध हैं और एक अनुवाद पुस्तिका के अतिरिक्त विभिन्न अवसरों पर दिए गए भाषण हैं। बालकों के लिये लिखी गई जीवनियाँ अंतर्भेदिनी दृष्टि से आकलित आदर्श रेखाओं को मनोरम ढंग से प्रत्यक्ष कर देती हैं। सतत गतिमान प्रसन्न शैली में लिखे गए 'रचनावली' के अधिकांश लेख और जीवनियाँ सुगम, अवसरानुकूल, भावमय और सुस्पष्ट गद्य के नमूने हैं। लेखक की जिंदादिली, क्रीड़ावृत्ति और विनोदमयता को सुंदर ढंग से उद्घाटित करनेवाली 'दो घड़ी' अन्य रचनाओं से भिन्न कोटि की है। इसमें लेखक के १४ हास्यविनोदपूर्ण निबंध हैं। इनका व्यंग - विनोद परिष्कृत है। मुहाविरों से गुथी हलकी फुलकी शैली के द्वारा इनमें हास्य का निर्मल रंग अच्छा निखरा है।

'रचनावली' के तीसरे भाग में श्री शिवपूजन सहाय के सवा सौ से अधिक लेख और टिप्पणियाँ हैं। लेखों के विषय अनेक प्रकार के हैं। शैली की दृष्टि से भी अनेकरूपता है। भावात्मक, विचारात्मक, विवरणात्मक सभी प्रकार की रचनाएँ हैं। व्यंग - विनोद भी हैं। कई रचनाएँ पुरानी होने पर भी मार्मिक हैं। इनके पढ़ने पर सन् १९१२ से १९५६ तक के हिंदी साहित्य की गतिविधि की अनेक स्थितियों की थोड़ी बहुत झाँकी मिल जाती है। बहुत सी साहित्यिक जानकारियाँ होती हैं जिनमें से कुछ का ऐतिहासिक मूल्य है, कुछ वर्तमान काल के भी काम की हैं। ये पुस्तकें पुस्तकालय की शोभा हैं।*

—सतीशचंद्र

* शिवपूजन रचनावली (भाग २ और ३) ले० श्री शिवपूजन सहाय; प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना; मूल्य क्रमशः नौ और दस रुपए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी शेक्सपियर

इधर हिंदी में अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें अनूदित होकर प्रकाशित हो रही हैं। यह दूसरी बात है कि सभी अनुवाद न महत्वपूर्ण बन सके हैं और न प्रामाणिक। किंतु बहुत सी पुस्तकों का अनुवाद छप जाना कम मूल्यवान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परिनिष्ठित अनुवाद तो आते-आते आते हैं।

शेक्सपियर के कई नाटकों का अनुवाद डा० रांगेयराघव ने किया है। सं० १६५० के आसपास पुरोहित गोपीनाथ ने उसके रोमियो जुलिएट, ऐज यू लाइक इट और मरचेंट आफ वेनिस का हिंदी अनुवाद किया था। उसी समय मैकवेथ का भी एक अच्छा अनुवाद 'साहसेन्द्र साहस' के नाम से पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने किया। पर किसी योजना के अनुसार अनुवाद न होने के कारण शेक्सपियर के कई महत्वपूर्ण नाटक अननूदित रह गए।

जूलियस सीजर, मैकवेथ, आथेलो, एज यू लाइक इट (जैसा तुम चाहो), मरचेंट आफ वेनिस (वेनिस का सौदागर) आदि के हिंदी अनुवादों की आवश्यकता थी। डा० रांगेय राघव ने इस कार्य को परिश्रम पूर्वक किया है, इसमें संदेह नहीं। प्रत्येक नाटक के प्रारंभ में शेक्सपियर का संक्षिप्त परिचय और भूमिका में अनूदित नाटक का वस्तुसार दे दिया गया है।

भरसक शेक्सपियर के मूल भावों को हिंदी में ले आने का प्रयास किया गया है। पर जहाँ तहाँ शीघ्रता के कारण मूल भावों को ठीक से अनूदित नहीं किया जा सका है। इन सभी अनुवादों में ओथेलो कदाचित अपेक्षाकृत अच्छा बन पड़ा है। प्रत्येक नाटक के आरंभ में संबद्ध नाटक की विस्तृत समीक्षा जोड़ देने से उसकी उपयोगिता बढ़ जाती। फिर भी अनुवादक का प्रयास स्तुत्य है। छपाई सुंदर और गेट अप आकर्षक है।*

चतुर्दश भाषा निबंधावली

प्रस्तुत पुस्तक में उन चौदह भाषाओं के भाषा-साहित्य के संबंध में लेख संगृहीत किए गए हैं जो संविधान द्वारा प्रमुख भाषाएँ स्वीकृत की गई हैं। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य उपर्युक्त चौदह भाषाओं के भाषा-साहित्य का परिचय भर करा देना है। संचालक के शब्दों में 'इस निबंध संग्रह के प्रकाशन का उद्देश्य भी यही है कि संविधान-स्वीकृत भाषाओं और उनके साहित्य की विशेषताओं से हिंदी पाठक एक ही स्थान पर थोड़े में ही परिचित हो जाएँ।' पुस्तक के उद्देश्य को देखते हुए इसकी उपादेयता निर्विवाद है।†

नयी कविता

'नयी कविता' विश्वम्भर मानव का नया आलोचनाग्रंथ हैं। इसमें सब मिलाकर तैंतालीस नए कवियों की रचनाओं का परिचय दिया गया है। 'नयी कविता' शीर्षक से पाठकों में भ्रम फैलता है कि इस ग्रंथ में केवल नई प्रयोगशील रचनाओं का आकलन किया

* जूलियस सीजर, ओथेलो, मैक वैथ, वेनिस का सौदागर, जैसा तुम चाहो, अनु० डा० रांगेय राघव; प्रकाशक राजपाल एंड संस; मूल्य प्रत्येक का १.७५ रुपए।

† चतुर्दश भाषा निबंधावली, प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, मूल्य सजिल्द ४.२५ रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110708

गया होगा, क्योंकि 'नयी कविता' एक विशेष अर्थ में लगभग रूढ़ हो गई है। मानवजी ने इस ग्रंथलेखन की 'प्रेरणा' में लिखा है—'सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी कोटि के आलोचकों ने नये गीतिकारों की उपेक्षा की है। काव्य के पवित्र क्षेत्र में इस संकीर्णता और इस अनौचित्य को देखकर ही इस समीक्षाग्रंथ को प्रस्तुत करने की मेरी इच्छा हुई।' पर निश्चय ही आज की गीतियों को नई कविता का मुख्य स्वर नहीं माना जा सकता। आज के गीतिकार कविसंमेलनों को शोभा रह गए हैं।

नए कवियों को तीन भागों में बाँटा गया है—प्रगतिवादी, नए गीतिकार और प्रयोगवादी। जैसा कि लेखक ने 'प्रेरणा' में कहा है, उसके अनुसार गीतिकार कवियों को अधिक पृष्ठ देना स्वाभाविक था। प्रत्येक वर्ग के कवियों के मूल्यांकन के पूर्व उस वर्ग की विशेषताओं का स्पष्ट उल्लेख उन्हें समझने में सहायक सिद्ध होता है।

मानव जी हिंदी के जाने माने आलोचक हैं। इसलिये उनके विचारों में स्पष्टता का मिलना स्वाभाविक है। अनेक स्थलों पर मानव जी के विचारों और मान्यताओं से सहमत होना कठिन है। पर जिस उद्देश्य को लेकर इसकी रचना की गई है उसकी पूर्ति में इसकी समर्थता असंदिग्ध है।*

—अजय

राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धांत

प्रस्तुत पुस्तक, जैसा कि लेखक ने 'निवेदन' में ही स्पष्ट कर दिया है, बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये पाठ्यग्रंथ के रूप में तैयार की गई है। समूची विषयवस्तु को लेखक ने तीस विभिन्न अध्यायों में विभक्त किया है। प्रारंभ में विषयप्रवेश और राजनीतिशास्त्र का अन्य विज्ञानों से जो संबंध है उसका परिचय देते हुए लेखक ने राज्य, उसके स्वरूप, राज्य, राष्ट्र और उपराष्ट्र के अंतर, राज्य की उत्पत्ति, तथा राज्य के विकास की विशद् चर्चा की है। तदनंतर कानून, संविधान, राज्य तथा शासन के भेद, शक्तियों के विभाजन का सिद्धांत, शासन के विभिन्न अंगों का संगठन, राजनीतिक दल प्रभृति विषयों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। दो विभिन्न अध्यायों में व्यक्ति तथा राज्य के संबंधों की चर्चा की गई है तथा राज्य के कार्यक्षेत्र-संबंधी 'सिद्धांतों' के अंतर्गत आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

लेखक ने यथासंभव प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग किया है किंतु कहीं कहीं नवीन शब्दावली के भी दर्शन होते हैं, उदाहरणार्थ नेशनैलिटी के लिये उपराष्ट्र अथवा राष्ट्रीय इकाई का प्रयोग। इस विषय में लेखक ने जो मंतव्य प्रकट किया है, वह सर्वथा संतोषप्रद है। इधर कई लेखकों ने नैशनैलिटी के लिये 'राष्ट्रीयता' शब्द का जो उपयोग किया है वह कुछ भ्रामक हो गया है। लेखक ने नैशनैलिटी के संबंध में प्रचलित मतमतांतरों की जो विशद् चर्चा की है, उससे भी विद्यार्थियों को अत्यधिक लाभ होगा। इसके अभाव में विद्यार्थी दोनों के अंतर को स्पष्टतया समझने में असमर्थ रहते।

* नयी कविता, लेखक विश्वंभर 'मानव'; प्रकाशक,साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, मूल्य ४ रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक ने पुस्तकप्रणयन में अनेक अँग्रेजी पुस्तकों की सहायता ली है, जिसके परिणाम-स्वरूप पुस्तक का स्तर इतना उन्नत हो गया है कि वह किसी भी अन्य अँग्रेजी पाठ्यग्रंथ का सरलता से मुकाबला कर सकती है। स्थान स्थान पर टिप्पणियों में अंग्रेजी उद्धरण देकर पुस्तक को विद्यार्थियों के लिये अत्यंत उपादेय बना दिया गया है।

जहाँ तक विषयवस्तु का संबंध है, लेखक ने अपनी ओर से आधुनिक से आधुनिक सामग्री देने का प्रयास किया है किंतु फिर भी कहीं कहीं लेखक विषय के साथ पूर्णतया न्याय नहीं कर सका है, उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष लोकतंत्र की अपेक्षाकृत उपेक्षा हो गई है। इसी प्रकार आधुनिक विचारधाराओं को भी लेखक ने अपेक्षाकृत अत्यधिक संक्षिप्त कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप विद्यार्थी उससे उतना लाभान्वित नहीं हो सकते जितना कि अन्यथा संभव होता। मुद्रण की त्रुटियाँ भी कहीं कहीं अत्यधिक अखरनेवाली हैं। अस्तु इन त्रुटियों के होते भी प्रस्तुत पुस्तक हिंदी में प्रकाशित तत्संबंधी अन्य अनेक ग्रंथों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है और लेखक तथा प्रकाशक इसके लिये बधाई के पात्र हैं।*

—भँवरलाल गर्ग

अरिस्तू की राजनीति

यूरोपीय राजनैतिक विचारधारा में अरिस्तू के राजनीतिशास्त्र (पॉलिटिक्स) का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। यह हम इसी से आँक सकते हैं कि उसकी मृत्यु के समय से लेकर आजतक वह विचारकों के अध्ययन, मनन और प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। अपने समय में उसका जो प्रभाव और प्रतिष्ठा थी, मध्यकाल में वह उससे बहुत अधिक हो गई, और आज भी वह वैसी ही है। यही नहीं, पाश्चात्य जगत् में राजनैतिक वाङ्मय के शास्त्रीय अध्ययन का आरंभ भी इसी ग्रंथ से माना जाता है। यही कारण है कि इस शास्त्र का नाम ही इसी ग्रंथ के ऊपर पड़ गया।

स्वाभाविक रूप से, उसके इस महत्व के अनुरूप ही आधुनिक काल के राजनीतिशास्त्र के पंडितों का ध्यान, सर्वाधिक इस ग्रंथ की ओर गया। यूरोप की प्रमुख भाषाओं, विशेष रूप से अँगरेजी में, आज इसके कोड़ियों अनुवाद, संपादित संस्करण तथा इसपर विवेचनात्मक ग्रंथ निकले तथा निकलते जा रहे हैं। आज, जब कि अपने देश में हिंदी का सर्वप्रमुख स्थान हो गया है तो उसके राजनैतिक-साहित्यिक अभिवृद्धि के लिये आवश्यक था कि इस महत्वपूर्ण ग्रंथ की अवतारणा इसमें भी होती।

इसके लिये हम उत्तरप्रदेश शासन तया उसकी हिंदी परामर्श समिति को धन्यवाद देंगे जो उसका ध्यान इसकी ओर गया और इसका अनुवाद प्रकाशित हुआ। इससे उन लोगों का तो लाभ हुआ ही जो हिंदी के माध्यम से उसका अध्ययन करना चाहते हैं, उनसे कम लाभ एम० ए० के विद्यार्थियों का भी नहीं हुआ जिनका प्रथम प्रश्नपत्र यूनानी विचारधारा, विशेष रूप से अफलातून तथा अरिस्तू से संबंधित है।

* राजनीति के मूल सिद्धांत—लेखक योगेंद्र मल्लिक। प्रकाशक आत्माराम एंड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६। पृष्ठ संख्या, ६०६। मूल्य ८ रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके साथ ही साथ, लेखक के निर्वाचन के लिये हिंदी परामर्श समिति को हम बहुत बहुत बधाई देंगे। लेखक संस्कृत के पंडित हैं, साथ ही मूल ग्रीक भाषा और जर्मन भी जानते हैं। ग्रंथ को देखने से मालूम होता है कि आपकी राजनीतिशास्त्र की जानकारी भी अच्छी है। यही कारण है कि आप न केवल मूल ग्रंथ के अनुवाद में ही समर्थ हो सके हैं वरन् एतद् संबंधी अँगरेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के साथ प्रसंगानुसार तुलनात्मक अध्ययन कर सके हैं। स्थान स्थान पर आवश्यकतानुसार संस्कृत के राजनीतिसंबंधी विचारों का भी तुलनात्मक उपयोग उचित रूप से किया गया है। इनसे अनुवाद का मूल्य बहुत बढ़ गया है। सब मिलाकर अनुवाद बहुत अच्छा बन पड़ा है।

ग्रंथ के आरंभ में एक विस्तृत भूमिका है। इसमें अरिस्तू तथा उसके जीवन से संबंध रखनेवाली बातें, उसके अन्य ग्रंथ, उसके दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचार, प्रस्तुत ग्रंथ की ऐतिहासिक समीक्षा तथा उसके अंतर्गत आए हुए विचारों का थोड़े में समावेश कर दिया गया है। अरिस्तू के अध्ययन में रुचि लेनेवालों के लिये, थोड़े में, सारी सूचनाएँ दे दी गई हैं, जिससे उसके अध्ययन में सहायता मिल सके। यही नहीं, मूलपाठ के अनुवाद के साथ ही प्रत्येक अध्याय के अंत में उसका सारांश तथा उसमें आए हुए प्रासंगिक स्थलों तथा प्रकरणों के संबंध में टिप्पणियाँ दे दी गई हैं।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ये बहुत ही सहायक हैं। फिर भी हमारा सुझाव है कि अगले संस्करण में सारांश अध्याय के आरंभ में और टिप्पणियाँ प्रत्येक प्रासंगिक पृष्ठ के अंत में अथवा हाशिए में दे दी जायँ, जिससे पढ़नेवालों के लिये सुविधा हो सके। क्योंकि अध्याय पढ़ लेने के उपरांत सारांश पढ़ने में कोई लाभ नहीं। टिप्पणियों के लिये बारबार पृष्ठों का उलटना अत्यंत असुविधाजनक होता है। अच्छा हो यदि अगले संस्करण के प्रत्येक पैरा में आये हुए भावों को स्पष्ट करनेवाले शीर्षक दे दिये जायँ।

वस्तु की ही दृष्टि से ही नहीं, वरन् छपाई इत्यादि की दृष्टि से भी यह प्रथम कोटि की चीज बन पड़ी है। बहुत अच्छी जिल्दबंदी, प्रथम कोटि की छपाई तथा त्रुटियों के अभाव ने इसे आदर्श बना दिया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि छपाई, सफाई, सजधज के साथ ही इसका जो गुणात्मक मूल्य है, उसके अनुसार हिंदी की बात तो छोड़ दी जाय, अँगरेजी या किसी अन्य प्रगतिशील भाषा में भी यह २५ या ३० रुपए से किसी भी अवस्था में कम में उपलब्ध न होगा। इसका जो मूल्य है वह इस दृष्टि से बहुत ही कम है। इससे आशा है कि अधिक से अधिक लोग लाभ उठा सकेंगे।

इस प्रसंग में हम अंत में इतना और कहना चाहेंगे कि अच्छा होता जो राजनीति के कुछ लेखक जैसे प्लातोन, मैकियाविली, हाब्स, लॉक, बेंथम इत्यादि के मूलग्रंथों तथा कुछ महत्वपूर्ण राजनैतिक लेखकों के ग्रंथों के चुने हुए प्रासंगिक अंशों के अनुवाद भी उस रूप में छपवा दिए जाँय जिस प्रकार 'कोकर' के ग्रंथों के हैं तो हिंदी के राजनीति के पाठकों का बड़ा उपकार होगा।

—दिलीप

अरिस्तू की राजनीति, अनुवादक—श्री भोलानाथ शर्मा, प्रकाशक—प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ, पृष्ठ संख्या—६४७, मूल्य—८ रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति स्वीकार

•

निम्नलिखित पुस्तकें सधन्यवाद समीक्षार्थ प्राप्त हुईं—

*राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धांत—योगेंद्र मल्लिक एम० ए० प्रकाशक-आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली १०)

सैंट्रीफ्यूगल पंप्स—रामेश्वर दयाल बंसल, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली ३)

सरल रेडियो विज्ञान—रमेशचंद्र विजय ,, ,, ५)

*बंदे वाणीविनायकौ—रामवृक्ष बेनीपुरी ,, ,, ३)

इंसानियत जीवित है—करुणेंद्र ,, ,, ३)

सौंदर्य की रेखाएँ—आस्कर वाइल्ड अनु० रामस्वरूप दूबे, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली ५)

पाप की गली—डोरिन मैनरस, अनु० महावीर अधिकारी, आत्माराम ऐंड संस कश्मीरी गेट दिल्ली ३)

बढ़ते कदम—रामकृष्ण, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली २।)

भोर की किरणें—अरुण एम० ए० ,, ,, २।)

पारिवारिक समस्यायें—सावित्री देवी वर्मा ,, ७॥)

क्रांतिवाद—विश्वनाथराय ,, ,, ५)

दो सेर धान—तकषी शिवशंकर पिल्लै, अनु० श्रीमती भारती विद्यार्थी, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली २)

आदिवासियों की लोककथायें—श्रीचंद्र जैन एम० ए०, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली १॥)

ऐतिहासिक दृश्य—श्यामलाल एम० ए०, आत्माराम ऐंड संस कश्मीरीगेट दिल्ली १॥)

तेलंगाना की लोक कथाएँ—आनंद प्रकाश जैन ,, ,, १।)

उत्तरीय संगीत शास्त्र—पतंजल देव शर्मा ,, ,, १।)

पाँच बेंत—श्रीमती भारती विद्यार्थी ,, ,, २॥)

चाँद का सफर—प्रकाश पंडित, राजपाल ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली ॥।)

सूझ बूझ की कहानियाँ— ,, ,, ॥।)

रेणु—रामचंद्र टंडन ,, ,, २)

*देखा परखा—इलाचंद्र जोशी ,, ,, २॥)

लोकों का युद्ध—एच० जी० वेल्स, अनु० रमेश बिसरिया, राजपाल ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली ४)

जीवन का सद्व्यय—अनु० हरिभाऊ उपाध्याय नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद १।)

सत्य ही ईश्वर है—महात्मागांधी जी ,, ,, ॥।-)

चंदेरी का जौहर—आनंदमिश्र, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली २)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवध की लोक कथाएँ भाग १--गोपालकृष्ण कौल, कमलादेवी कौल, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली १।)

ग्राम लोक कथाएँ—महेंद्र मित्तल, आत्माराम ऐंड संस कश्मीरी गेट, दिल्ली १।)

कौरी करामात—भा० वि० वरेरकर अनु० श० केलकर, आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली १॥)

पत्र लेखन कला—बनारसीदास चतुर्वेदी-हरिशंकर शर्मा, आत्माराम ऐंड संस कश्मीरी गेट दिल्ली ॥।)

मुगल साम्राज्य की जीवनसंध्या—राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, आत्माराम ऐंड संस कश्मीरी गेट, दिल्ली ६)

विदर्भ की लोक कथाएँ—प्यारेलाल एम०ए०,आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली १।)

आत्म विज्ञान ।≈)

उत्तरापथ—यादवचंद्र जैन, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ३॥)

इनसे बचिये—राजेंद्रनाथ मिश्र ,, ,, ॥।)

रेखा—चंद्रगुप्त विद्यालंकार ,, ,, ३)

रात और प्रभात—भगवती प्रसाद बाजपेयी, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ३॥)

महाप्रभु वल्लभाचार्य—गोविंददास, गीताप्रेस, गोरखपुर ॥)

तिरंगा झंडा—विराज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई सड़क दिल्ली

बसंत के फूल—विराज ,, ,, ४)

समीक्षात्मक निबंध—विजयेंद्र स्नातक,, ,, ५॥)

रामचरितमानस का पाठ तथा मानस व्याकरण—गीताप्रेस, गोरखपुर ।)

विश्व परिचय--ईस्टर्न ट्रेनिंग कं०, कलकत्ता ॥≈)

मानव जाति का उद्भव—डा० युरेव, ईस्टर्न ट्रेनिंग कं०, कलकत्ता ॥≈)

सिद्धिमाता प्रसंग—राजबालादेवी अनु० श्रीकृष्णपंत सदानंददास, १६३ गणेश मोहल्ला वाराणसी २।)

एकला चलोरे—मनुबहन गांधी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद २)

रवींद्रनाथ टैगोर—प्राणनाथ वानप्रस्थी, राजपाल ऐंड संस कश्मीरी गेट दिल्ली ॥)

विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र—कालिदास अनु० विराज राजपाल ऐंड संस कश्मीरी गेट दिल्ली ३)

*जूलियस सीजर—शेक्सपियर अनु०रांगेयराघव,राजपाल ऐंड संस,कश्मीरी गेट,दिल्ली १॥।)

*आथेलो ,, ,, ,, ,, १॥।)

*जैसा तुम चाहो—शेक्सपियर अनु० रांगेयराघव ,, ,, १॥।)

*मैकबैथ ,, ,, ,, ,, १॥।)

*वेनिस का सौदागर—शेक्सपियर अनु० रांगेयराघव ,, ,, १॥।)

उत्तर रामचरित—भवभूति अनु० इंद्र ,, ,, ,, २)

वीर पुत्रियाँ—प्राणनाथ वानप्रस्थी ,, ,, ॥।)

गौतम बुद्ध—प्राणनाथ वानप्रस्थी, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ६ ॥)

पथेर पांचाली—विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, अनु० मन्मथनाथ गुप्त, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ६ ५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अली बाबा और चालीस चोर—जगदीश दीक्षित 'आनंद', राजपाल एँड संस, दिल्ली ६, ॥।)

भारतीय बुद्धिजीवी—डा० संपूर्णानंद, पब्लिकेशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ ॥।)

समाजवाद—डा० संपूर्णानंद, पब्लिकेशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ ॥।)

जीवन का काव्य—काका कालेलकर, अनु० श्रीपाद, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद २)

विश्वकर्मदेव की कथा—डा० रघुनाथ दत्त शर्मा विश्वकर्मा, आनंद भवन, काशी १।)

श्रीकृष्ण—प्राणनाथ वानप्रस्थी, राजपाल एंड संस, दिल्ली १।)

बंगला की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ ,, ,, २॥)

सफल जीवन—सत्यकाम विद्यालंकार ,, ,, २।)

धार के इधर उधर—डा० 'बच्चन' ,, ,, २।)

जातक कथाएँ— ,, ,, १।)

तालीम की बुनियादें—कि० घ० मशरूवाला, अनु० सोमेश्वर पुरोहित, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, २)

विचार दर्शन—केदारनाथ, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद २)

हमारे संगीतरत्न (उ० भा०) लक्ष्मीनारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस १५)

परती परिकथा—फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन लि०, फैजबाजार, दिल्ली ७॥)

हिंदी रीतिसाहित्य—डा० भगीरथ मिश्र ,, ,, ४)

वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी ,, ,, ३॥)

पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढियाँ—ब्रजविलास श्रीवास्तव ,, ३)

भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा—परशुराम चतुर्वेदी ,, ३॥)

उर्दू साहित्य का इतिहास—डा० एजाज हुसेन, अनु० शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन लि०, फैजबाजार, दिल्ली ६)

भोजपुरी और उसका साहित्य—डा० कृष्णदेव उपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली २।)

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास—शमशेर सिंह नरूला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ४)

तिलहन की खेती—नारायण दुलीचंद व्यास, सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सरकस, नई दिल्ली, १)

विनोबा के साथ सात दिन—श्रीमन्नारायण, सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सरकस नई दिल्ली ४)

मील के पत्थर—रामवृक्ष बेनीपुरी, सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सरकस नई दिल्ली, २)

अठारह सौ सत्तावन—श्री निवासबाला जी हर्डीकर ,, ,, २॥)

जैसी करनी वैसी भरनी—संपा० शिव सहाय चतुर्वेदी, ,, ,, १॥)

भारत सावित्री (आदि से विराटपर्व) डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ,, ३॥)

केरली साहित्य दर्शन—रत्नमयी देवी ,, ,, ४)

मानस बालकांड के स्रोत—श्रीशकुमार, हेमाभ प्रकाशन सी० ११।२ चेतगंज, वाराणसी ५)

भारतीय संगीत की कहानी—डा० भागवतशरण उपाध्याय, राजपाल एंड संस, दिल्ली १।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय भवनों की कहानी—डा० भागवतशरण उपाध्याय, राजपाल एंड संस, दिल्ली १।)

विश्व साहित्य की रूपरेखा—भागवतशरण जी उपाध्याय, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली १२)

मादिनी—राजेंद्र प्रसादसिंह, मधुरिमा साहित्य प्रकाशन, मुजफ्फरपुर २)

क्षितिज—गिरीश अस्थाना, आदर्श प्रकाशन, २४ पथरियाघाट स्ट्रीट, कलकत्ता, ६ २।।)

दिग्वधू—राजेंद्रप्रसाद सिंह, मधुरिमा साहित्य प्रकाशन, मुजफ्फरपुर २।)

निराला जानवर—प्रकाश पंडित, राजपाल एंड संस, दिल्ली ।।।)

मृच्छ कटिक—शूद्रक, अनु० डा० रांगेय राघव „ „ ३)

*मैकबेथ—विलियम शेक्सपियर, अनु० 'बच्चन' हरिवंशराय, राजपाल एंड संस, दिल्ली ३)

हमारे पड़ोसी—भगवतशरण उपाध्याय, „ „ १।)

उनसे न कहना—भगवतीप्रसाद वाजपेयी „ „ ५)

हिंदी को मराठी संतों की देन—विनय मोहन शर्मा, बिहारराष्ट्र भाषा परिषद्, पटना ११।)

*चतुर्दश भाषा निबंधावली „ „ ४।)

रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना—भुवनेश्वरनाथ मिश्र "माधव' „ १०)

अध्यात्म योग और चित्त विकलन—वेंकटेश्वर शर्मा „ „ ७।।)

*शिवपूजन रचनावली (२) शिवपूजन सहाय „ „ ६)

* „ „ (३) „ „ „ „ १०)

बाँसरी बज रही—जगदीश त्रिगुणायत „ „ ८)

प्राचीन भारत की सांग्रामिकता—रामदीन पांडेय „ „ ६।।)

*दोहा कोश—सिद्ध सरहपाद „ „ १३।)

आत्म रचना अथवा आश्रमी शिक्षा—जगतरामदेव अनु० रामनारायण चौधरी, नवजीवन प्रकाशन, मंदिर, अहमदाबाद २।।)

दो परतें (मुक्तछंद)—महाराज कृष्ण रसगोत्र, प्रेमनाथ रसगोत्र ४।१४ रूपनगर दिल्ली ३)

आत्मकथा अर्थात् आपबीती—नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, नंदकिशोर शास्त्री, लक्ष्मीनारायण शास्त्री महाविद्यालय, जमालपुर ५)

*स्वतंत्र भारत में शिक्षा—हुमायूँ कबीर अनु० विराज एम० ए०, राजपाल एंड संस, दिल्ली ५।।)

मुद्राराक्षस—विशाखदत्त अनु० रांगेय राघव, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली २)

गुलाब के दो फूल—राबर्ट लुई स्टीवेन्सन, अनु० महावीर अधिकारी, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ५)

खेलें कूदें नाचें गायें—धर्मपाल शास्त्री, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ।।)

आओ करें सवारी—रामचंद्र तिवारी, „ „ ।।।)

बापू की छाया में मेरे जीवन के १६ वर्ष (१०३२-४८,) हीरालाल शर्मा, ग्रंथकार, ईश्वर शरण आश्रम, प्रयाग १५)

बिखरे मोती—राजकुमार जौहरी, न्यू लिटरेचर २५७ चक, इलाहाबाद, १)

अंगारे और फूल—बहाउद्दीन अहमद, ज्ञान मंजिल पब्लिकेशन, दरियापुर, पटना ७।।)

राधावल्लभ संप्रदाय और सिद्धांत—डा० विजयेंद्र स्नातक, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली १८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बापू की कलम से—महात्मा गांधी, संपा० काका कालेलकर, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, २॥)

तत्वज्ञान—दीवानचंद, प्रकाशन ब्यूरो, उ० प्र० सरकार, लखनऊ ४)

उत्तर प्रदेश में बौध धर्म का विकास—नलिनाक्ष दत्त, कृष्ण दत्त वाजपेयी, प्रकाशन ब्यूरो, उ० प्र० सरकार, लखनऊ ६)

संस्कृत और उसका साहित्य—शांतिकुमार नानूराम व्यास, राजकमल प्रकाशन दिल्ली २॥)

बनपाखी सुनो—नरेश मेहता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ३)

साहित्य के साथी—कैलाश कल्पित, नेशनल प्रेस, इलाहाबाद २)

चभाका—रामकुमार त्रिपाठी, तिवारीटोला, डुमराँव, शाहाबाद ।=)

दहाड़ ,, ,, ,, ,, ।=)

जयसिंह विरुदावली—प्रताप शाही, संपा० रविशंकर देराश्री, सं० हिंदूपत प्रेस, राघोगढ़ ॥)

जीवन लीला—काका कालेलकर, अनु० रवींद्र केलेकर, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद ३)

एटम की कहानी—जानलेवसेन, अनु० विराज राजपाल एंड संस, दिल्ली १)

जोश मलीहाबादी—संपा० प्रकाश पंडित ,, ,, १॥)

पंछी और आकाश—रांगेय राघव ,, ,, ४)

दशकुमार चरित—दंडी, अनु० रांगेय राघव ,, ,, ४)

उर्दू की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ—अनु० संपादक, प्रकाश पंडित, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली ३॥)

मजाज—जीवनी संकलन ,, ,, ,, ,, १॥)

गालिब ,, ,, ,, ,, १॥)

साहिर लुधियानी—संपादक प्रकाश पंडित ,, ,, १॥)

मेरी कालिज की डायरी—धीरेंद्र वर्मा, साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद १॥)

रूपलक्ष्मी—कृष्णचंद्र शर्मा, 'भिक्खु' ,, ,, १॥)

जीवनदीप—कुमारी कांति त्रिपाठी, उदयाचल, कमला नेहरू मार्ग, मुरादाबाद १॥)

* तारांकित पुस्तकों की समीक्षा हो चुकी है।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

कुछ अमूल्य प्रकाशन

भिखारीदास ग्रंथावली (खंड १-२)

संपादक—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र

भिखारीदास रीतिकाल के अंतिम आचार्यों में विशिष्ट आचार्य और कवि हो गए हैं। इनके ग्रंथों के वैज्ञानिक और समीक्षात्मक संस्करण नहीं थे। आकर ग्रंथमाला के अंतर्गत भिखारीदास जी के चारो साहित्यिक ग्रंथों—रससारांश, शृंगारनिर्णय, छंदार्णव तथा काव्यनिर्णय का वैज्ञानिक संपादन आधुनिक पद्धति पर प्रस्तुत किया गया है। इसमें प्रत्येक ग्रंथ के पाठांतर पादटिप्पणी में यथालब्ध हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों के आधार पर दिए गए हैं। परिशिष्ट में प्रत्येक ग्रंथ के छंदों की प्रतीकसूची और प्रत्येक में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों का विस्तृत कोश भी दिया गया है। संपादक ने आरंभ में संपादनसामग्री और संपादनशैली का अनुसंधानपूर्ण विवेचन किया है। प्रत्येक खंड का मूल्य ७॥)।

हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के त्रैवार्षिक खोजविवरण

सरकार की सहायता एवं अनुमति से सभा ने खोजविवरण हिंदी में छापना आरंभ किया है। निम्नलिखित विवरण छपकर तैयार हो गए हैं :

१. सन् १९२६-२८; संपादक डा० हीरालाल; सजिल्द, पृष्ठ ८४८ मूल्य २१)।
२. सन् १९२९-३१; संपादक डा०पीतांबरदत्त बड़थ्वाल; सजिल्द, पृष्ठ ७०६, मूल्य १५)।
३. सन् १९३२-३४; संपादक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल; सजिल्द, पृष्ठ ४५२, मूल्य ११)।
४. सन् १९३५-३७; संपादक डा० पीतांबरयत्त बड़थ्वाल, सजिल्द, पृष्ठ ५०० ,मूल्य ११)।
५. सन् १९३८-४० तक मूल्य ११)।

व्यंजना और नवीन कविता

श्री राममूर्ति त्रिपाठी, एम. ए., साहित्यशास्त्राचार्य

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने शब्दशक्तियों का संक्षिप्त परंतु गंभीर एवं सुस्पष्ट परिचय देकर व्यंजना का विस्तृत विवेचन किया है। साथ ही पश्चिमी साहित्यशास्त्र के प्रमुख तत्वों के साथ स्पष्ट करके लेखक ने प्राच्य और पाश्चात्य काव्यों में व्यंजक प्रयोगों का विश्लेषण करके इसे सर्वांगपूर्ण बना दिया है। हिंदी में ऐसे जटिल विषय पर इतनी स्पष्ट और सुबोध चर्चा करनेवाली दूसरी पुस्तक नहीं है। सामान्य परिचय से लेकर गहन अध्ययन तक इसकी उपयोगिता अक्षुण्ण है। मूल्य ५)

ध्वनिसंप्रदाय और उसके सिद्धांत

डा० भोलाशंकर व्यास

अभी तक हिंदी साहित्य में वृत्तिविषयक तुलनात्मक पुस्तक का नितांत अभाव था। विद्वान लेखक ने इसी कमी को पूरा करने के लिये भारतीय दार्शनिकों, वैयाकरणों तथा आलंकारिकों के शब्दशक्ति संबंधी विवेचनों की व्याख्या करते हुए पश्चिमी आलोचकों द्वारा प्रतिपादित व्यंजना वृत्ति की व्याख्याओं से उसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। आकर्षक आवरण, पृष्ठ ५१६, मूल्य १०)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

प्रथम भाग

हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक – श्री डा० राजबली पांडेय

(प्रिंसिपल — भारती महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय)

विगत ५० वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। देश के स्वाधीन और हिंदी के राज्यभाषा हो जाने की घोषणा के बाद हिंदी भाषा और साहित्य का क्रमबद्ध तथा विस्तृत इतिहास प्रस्तुत कर देना एक दो व्यक्तियों के बूते के बाहर की बात थी। यही समझकर इस कार्य को सभा ने अपने हाथों लिया और हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास को १७ भागों में प्रस्तुत करने की योजना बनाई। हिंदी के सभी चोटी के विद्वानों और हिंदीप्रदेश की सरकारों ने इस योजना को मान्यता दी, सभा को इन सबका सहयोग प्राप्त हुआ और राष्ट्रपति श्री डा० राजेंद्रप्रसाद जी नें आशीर्वाद देने की कृपा की। कार्य द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है और प्रथम भाग - **हिंदी साहित्य की पीठिका** – प्रकाशित हो गया है। विशाल हिंदी साहित्य को वास्तविक रूप में हृदयंगम करने के निमित्त जिन आनुषंगिक विषयों का परिचय अनिवार्य है उन सब ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश इस पीठिका भाग में कर दिया गया है जो निम्नलिखित पाँच खंडों में विभक्त है –

१ – भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामजिक स्थिति – श्री डा० राजबली पांडेय

२ – साहित्यिक आधार तथा परंपरा – श्री डा० भोलाशंकर व्यास

३ – धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा – श्री पं० बलदेव उपाध्याय

४ – कला – श्री डा० भगवतशरण उपाध्याय

५ – वाह्य संपर्क तथा प्रभाव – श्री डा० भगवतशरण उपाध्याय

विस्तृत अनुक्रमणिका . ८२५ पृष्ठ, रायल अठपेजी . ऐतिहासिक चित्र

पक्की जिल्द . ऐंटिक कागज . मूल्य केवल १८)

प्रकाशक

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

LIBRARY HARDWAR

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६२
संवत् २०१४
अंक ४

संपादकमंडल
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री करुणापति त्रिपाठी
डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

सहायक संपादक
श्री राधाविनोद गोस्वामी

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110708

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar .

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक विषयसूची

१. संदेशरासक के विचारणीय पाठ और अर्थ-२ —डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ... १

२. आधुनिक साहित्यिक हिंदी के नामधातु और नामिक संयुक्त क्रियाएँ —श्री वि० ए० चेर्निशोव (इंस्टीट्यूट आफ ओरिएंटल स्टडीज, मास्को, ... ८

३. भारतीय इतिहास के पूर्व मध्ययुग की समस्याएँ—डा० राजबली पांडेय ... ३३

४. व्रजभापा का उद्गम शौरसेनी अपभ्रंश—डा० शिवप्रसाद सिंह ४९

५. 'पुरातन प्रबंधसंग्रह' और 'पृथ्वीराज रासो'—डा० माताप्रसाद गुप्त ... १०५

६. राजस्थान में भागवत धर्म का प्राचीन केंद्र—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ... ११६

७. मेवाड़ के अज्ञात 'प्रशस्तिकार' एवं 'कवि'—श्री रत्नचंद्र अग्रवाल, एम. ए. ... १२३

८. महाभारत—एक ऐतिहासिक अध्ययन-१—डा० बुद्धप्रकाश १४५

९. मध्यदेशीय संस्कृति—डा० राजबली पांडेय १६०

१०. षोडश श्रृंगार—डा० बच्चन सिंह १६६

११. नाथ सिद्धों की प्राचीन शिल्पमूर्त्तियाँ—श्री उमाकांत प्रेमानंद शाह ... १७४

१२. विष्णुध्वज—डा० देवसहाय त्रिवेद २०३

१३. संदेशरासक के विचारणीय पाठ और अर्थ-३—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ... २५१

१४. महाभारत-एक ऐतिहासिक अध्ययन-२—डा० बुद्धप्रकाश २६७

१५. विशिष्ट शब्दार्थवाद—श्री राममूर्ति त्रिपाठी २९३

१६. महाभारत के कुछ कूटस्थल—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ३०४

विमर्श

'जेहि मँह' और 'एहिसन'—श्री किशोरीदास बाजपेयी ७७

तीन संशोधन—

राधावल्लभीय चतुर्भुजदास कृत ग्रंथ

पद्मिनीचरित्र का समय

'माधुर्य लहरी' के कर्ता कृष्णदास का वासस्थान—श्री वेदप्रकाश गर्ग ... ७९

नवकर वाली—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल २१२

प्रद्युम्नविजय नाटक—श्री ब्रजरत्नदास २१३

देवनागरी में अंग्रेजी शब्दों का उच्चारण—डा० गोरख प्रसाद ३११

चयन ८२, २१७ ३१३

निर्देश ८६, २३०, ३१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा

अरस्तू का काव्यशास्त्र—डा० बच्चन सिंह ९१
जैन साहित्य और इतिहास—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ९४
दर्द दिया है—श्री विश्वंभर 'मानव' ९६
ईख और चीनी—डा० गोपाल त्रिपाठी ९७
रबर—डा० गोपाल त्रिपाठी ९८
सूफीमत और हिंदी साहित्य—श्री दिलीपनारायण सिंह ९९
बहता तिनका—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी १०१
ए सिंपुल सदानी ग्रामर—श्री पूर्णगिरि गोस्वामी १०३
हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—श्री राधाविनोद गोस्वामी ... १०४
जैन शिलालेखसंग्रह—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल २३१
अर्धकथानक " " २३३
श्रीमद्राजेंद्रसूरि स्मारक ग्रंथ— " २३४
स्वतंत्र भारत में शिक्षा—डा० सीताराम जायसवाल २३५
उनसे न कहना—श्री विश्वंभर 'मानव' २३८
सरहपाद कृत दोहाकोश—डा० शिवप्रसाद सिंह २३९
भारतेंदु—श्री मोती सिंह २४६
मैकबेथ—श्री रामसेवक सिंह ३१७
बंदे वाणीविनायकौ तथा देखा परखा—श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ... ३२०
भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ—डा० शंभुनाथ सिंह ... ३२४
शिवपूजन रचनावली—श्री सतीशचंद्र ३२७
हिंदी शेक्सपियर—श्री अजय ३२८
चतुर्दश भाषा निबंधावली—श्री अजय ३२८
नयी कविता—श्री अजय ३२८
राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धांत—श्री भँवरलाल गर्ग ३२९
अरितू की राजनीति—श्री दिलीपनारायण सिंह ३३०
प्राप्ति स्वीकार ३३२
संपादकीय २४८

संशोधन

अंक २-३ के प्रथम आठ पृष्ठों की पृष्ठ संख्या १ से ८ को १०५ से ११२ समझें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar